

गीताविज्ञानभाष्य-आचार्य-रहस्यान्तर्गत

[अष्टम खण्ड]

वैहायसकृष्ण-रहस्य

पं० मोतीलाल शास्त्री

वेदवीथी-पथिक

राजस्थान पत्रिका प्रकाशन

केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर



गीताविज्ञानभाष्य-आचार्य-रहस्यान्तर्गत

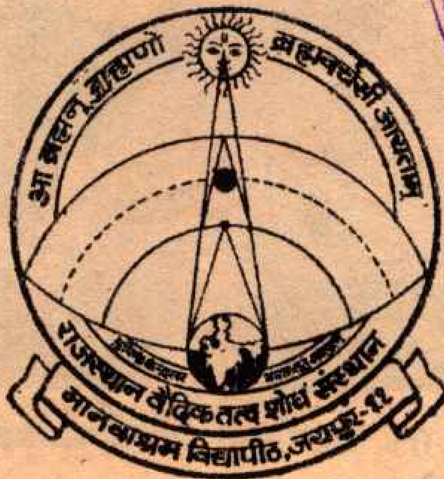
[अष्टम खण्ड]

वैहायसकृष्ण-रहस्य

पं० मोतीलाल शास्त्री

वेदवीथी-पथिक





थम संस्करण

प्रकाशक:

**राजस्थान पत्रिका लिमिटेड,
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर ।**





मुद्रक :

**श्री बालचन्द्र यन्त्रालय,
"मानवाश्रम", दुर्गापुरा रोड,
जयपुर—१८**



वेदवाचस्पति पं. मोतीलाल शास्त्री

प्रकाशकीय

(स्व०) पं० मोतीलाल जी शास्त्री द्वारा लिखित कृष्ण-तत्त्व-रहस्य विषयक नौ पुस्तकों में से अब तक छह पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। परमेष्ठीकृष्ण, चाक्षुषकृष्ण, ज्योतिकृष्ण, प्रतिष्ठाकृष्ण, सत्यकृष्ण और ईश्वरकृष्ण-रहस्य पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किये जा चुके हैं। अब यह "वैहायसकृष्ण-रहस्य" वेद-विद्या के जिज्ञासु अध्येताओं के लिए प्रस्तुत है।

वैहायसकृष्ण-रहस्य में शास्त्री जी ने कृष्ण के वैहायसरूप के महत्त्व को स्पष्ट किया है। विहायस, अन्तरिक्ष को कहते हैं। अन्तरिक्षस्थ चन्द्रमा ही वैहायसकृष्ण है। स्वयम्भू सत्यकृष्ण का ही क्रमशः अवतरण शूरसेन के पोते, महात्मा वसुदेव के पुत्र, विश्वक्सेन के रूप में हुआ था। कृष्ण के वैहायस-रूप के अतिरिक्त अन्य आनुषंगिक विषयों, यथा रास और उसके विविधरूप तथा रासेश्वरी राधा के मार्मिक रहस्यों को उद्घाटित करने के साथ ही आत्मसंस्थ-प्रजापति, वेद, प्राण, भूत, लोक, नाडी, पञ्चचिति, मनोता इत्यादि सम्बद्ध तत्त्वों की भी सम्यक्, स्पष्ट व्याख्या की गयी है, जिनका अध्ययन वेद-विज्ञान की सरणि के रूप में अतीव उपादेय है।

डॉ० मदनगोपाल शर्मा ने इस कृष्ण-रहस्य क्रम में, पूर्ववर्ती ग्रन्थों के अनुरूप ही, प्रस्तुत वैहायसकृष्ण का भी भाषा-सम्पादन एवं शुद्ध पाठ-निर्धारण कर अपनी देख-रेख में इसके प्रकाशन के दायित्व का निष्ठा एवं मनोयोगपूर्वक निर्वाह किया है, जो स्तुत्य है।

प्रो० मदनमोहन शर्मा ने न केवल प्रेस प्रति तय्यार की अपितु प्रूफ संशोधन में भी सहायता प्रदान की है जिसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

स्वर्गीय शास्त्री जी के पौत्र श्री प्रद्युम्नकुमार ने सन्दर्भों के उद्धरणों के मूल स्रोतों का सन्धान करने का दुरूह कार्य किया है तथा ग्रन्थ के निर्दोष एवं सुरुचिपूर्ण मुद्रण हेतु विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की है।

श्री हीरालाल गहलोत प्रूफ-संशोधन करने में सहायक रहे हैं।

आशा है, सुधीजन इस क्रम के पूर्ववर्ती ग्रन्थों की तरह प्रस्तुत कृति का भी स्वागत करेंगे व इससे लाभान्वित होंगे।

मकर संक्रान्ति वि०सं० २०४७

—कर्पूरचन्द्र 'कुलिश'

वैहायसकृष्ण-रहस्य

स्वयम्भू-सत्य का नाम ही 'कृष्ण' है। वही स्वयम्भू-सत्य क्रमक्रमशः उतरता हुआ शूरसेन के पोते महात्मा वसुदेव के पुत्र विश्वक्सेन में उतरा था, अतएव संसार ने उन्हें सत्यकृष्ण के अंश होने के कारण 'श्रीकृष्ण' नाम से व्यवहृत किया एवं उन्हें ईश्वर का अवतार माना गया। आर्षदृष्टि वाले वेद-व्यासादि महर्षियों ने कृष्ण को साक्षात् भगवान् बतलाया। इस प्रकार जिस सत्य के उतरने से मनुष्यकृष्ण अवतार कहलाए--उस सत्य के दो अवतारों का स्वरूप पूर्व में बतला दिया गया। सबसे पहले वह स्वयम्भू-सत्य परमेष्ठि-मण्डल में उतरता है–अनन्तर सूर्य्य में उतरता है। बाद में चन्द्रमा में आता है। इसके अनन्तर पृथिवी में उतरता है। पृथिवी द्वारा जीवों में आता है। जिसे जीवात्मा कहते हैं–वह भी उसी सत्य का अंश है। इसीलिए अव्ययेश्वर भगवान् कहते हैं—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति ॥[1]

यद्यपि वह स्वयम्भू-सत्य व्यापक है–उससे कोई भी स्थान खाली नहीं है, तथापि जैसे बिना कांच के किंवा पानी के सर्वत्र व्याप्त सौर-रश्मियों का आभास नहीं होता–तथैव चिद्ग्राहक वस्तु के अभाव से चेतना प्रादुर्भूत नहीं होती। जहाँ महान् सोम आया कि चित् का, उस सत्यकृष्ण का, आभास पड़ा–इसी को उतरना कहते हैं। वह सत्यकृष्ण इसमें प्रादुर्भूत हो गया–अन्यत्र नहीं हुआ–इसी दृष्टि को ले कर इस आभास को अवतार कहा जाता है। सामान्य दृष्टि से देखने पर चित् का आभास जहाँ पर है, वहीं उसकी सत्ता मालूम होती है, अतएव लौकिक दृष्टि को ले कर इसे हम 'अवतार' कहने के लिए तय्यार हैं।

---

१ गीता १५।७।

]

परमेष्ठी आदि को अवतार इसीलिए कहा जाता है। स्वयम्भू के बाद परमेष्ठी का नम्बर आता है, अतएव मानना पड़ता है कि सत्य का पहला अवतार परमेष्ठी ही है—जिसका विस्तृत विवेचन 'परमेष्ठीकृष्ण-रहस्य' में किया जा चुका है। परमेष्ठी के बाद है—सूर्य्य। यह दूसरा अवतार है—इसी को चाक्षुषकृष्ण भी कहा जाता है। इसका भी स्वरूप 'चाक्षुषकृष्ण-रहस्य' में बतला दिया गया है। सूर्य्य के बाद है—चन्द्रमा। यही तीसरा अवतार है। यही सत्य क्रमक्रमशः परमेष्ठी-सूर्य्य में उतरता हुआ इस चन्द्रमा में उतरा है। चन्द्रमा के अनन्तर वह सत्य पृथिवी में उतरता है। पृथिवी से जीवों में आता है एवं इसी पृथिवी से श्रीकृष्ण में आया था। इस प्रकार सिद्ध है कि संसार में जीव रूप में हम जो कुछ देखते हैं—वह इसी सत्य-कृष्ण के अवतार हैं। जब कि जीवमात्र उस सत्य-कृष्ण के अवतार हैं तो फिर कृष्ण ही को इतनी प्रधानता क्यों दी गई? कृष्ण ही को अवतार क्यों माना गया? कृष्ण के लिए ही कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् यह क्यों कहा गया? संसार में विश्वक्सेन को ही ईश्वर क्यों माना? एकमात्र यह प्रश्न बच जाता है। इसी प्रश्न के उत्तर के लिए 'मानुषोत्तमकृष्ण-रहस्य' नाम का विस्तृत निबन्ध लिखा जाएगा। कृष्ण को ही अवतार क्यों माना गया जब कि वे भी जीवात्मा ही थे? कृष्ण ही की उपासना क्यों करनी चाहिए जब कि जीव स्वयं वही कृष्ण है? इत्यादि प्रश्नों का समाधान उसी 'मानुषोत्तमकृष्ण-रहस्य' में किया जाएगा। यहाँ पर हमें 'वैहायसकृष्ण' का स्वरूप बतलाना है। जैसे कृष्ण में परमेष्ठी और सूर्य्य का अंश है—तथैव इनमें चन्द्रमा का भी अंश है एवं पृथिवी का भी अंश है। इन्हीं अंशों के कारण भगवान् मनुष्य श्रीकृष्ण में उन सब अवतारों के भाव पाए जाते हैं। परमेष्ठी-अवतार का अंश भी इनमें मौजूद है, अतएव जो-जो धर्म्म परमेष्ठी में हैं-वे सब ही इनमें पाए जाते हैं—जिनका कि विस्तृत विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। इसी प्रकार चन्द्र-कृष्ण का भी अंश इनमें आता है। चन्द्र-कृष्ण का कौन सा अंश इनमें आता है? इसके पहले उस चन्द-कृष्ण का स्वरूप समझ लेना आवश्यक होगा। चन्द्रमा चूँकि आकाश में रहता है—अन्तरिक्ष को 'विहायस' कहते हैं—अतएव इस कृष्ण को 'वैहायस' नाम से व्यवहृत किया जाता है। बस, क्रमप्राप्त इसी वैहायसकृष्ण का स्वरूप बतलाया जाता है। अन्तरिक्ष में विहार करने वाले जो कृष्णचन्द्र हैं—जो कि

अपने उजाले से संसार को प्रकाशित कर देते हैं–इनमें क्रम-क्रम से उतरता हुआ जो सत्यकृष्णावतार है–उसकी उपासना करनी चाहिए । अर्थात् मनुष्य कृष्ण को प्रतीक मान कर जैसे परमेष्ठी-कृष्ण की उपासना की जाती है एवं चाक्षुषकृष्ण की उपासना की जाती है, तथैव इसी को प्रतीक मान कर अन्तरिक्षस्थ कृष्णचन्द्र में उतरा हुआ जो 'सत्यकृष्ण' है–उसकी उपासना करनी चाहिए, वही स्वयम्भूसत्य क्रमक्रमशः उतरता हुआ–इस चन्द्रमा में उतरा है—

"अपिच–अस्मिन्नन्तरिक्षविहारिणि कृष्णचन्द्रे यः क्रमावतारः सत्यः सोऽयं भगवान् कृष्ण इत्युपासितव्यः"–इति ।

यहाँ पर प्रश्न होता है कि जिस चन्द्रमा को आप कृष्ण (काला) बतला रहे हैं–वह तो सर्वथा शुक्ल है । हम जब भी चन्द्रमा को देखते हैं–वह हमें शुक्ल ही दिखलाई पड़ता है । ऐसी अवस्था में उसे 'कृष्णचन्द्र' क्यों कर बतलाया जा सकता है ? जब वह कृष्ण ही नहीं है, तो उसकी उपासना कैसी ? इस प्रश्न के उत्तर में हमें यही कहना है कि वास्तव में सामान्य दृष्टि से देखने पर चन्द्रमा शुक्ल ही प्रतीत होता है–परन्तु जरा अवधानपूर्वक चन्द्रमा के दर्शन किए जाते हैं, तो उसका कृष्णत्व स्फुट हो जाता है । चन्द्रमा सर्वथा काला है–चन्द्रमा सोम का पिण्ड है । सोम परमेष्ठी की वस्तु है । परमेष्ठी में भूतज्योति का सर्वथा अभाव है । ऐसी अवस्था में वह शुक्ल क्यों कर हो सकता है ? चन्द्रमा प्रातिस्विकरूपेण सर्वथा काला है–अतएव मन्त्र-श्रुति कहती है— **ब्रह्माकृष्णश्च नोऽवतु ।**[1] जो कृष्ण ब्रह्मा है–वह हमारी रक्षा करे ।

पृथिवी से ले कर सूर्य्य तक एक यज्ञ हुआ करता है–इसे 'संवत्सर-यज्ञ' कहा जाता है । पृथिवी का अग्नि २१ (इक्कीस) अहर्गण तक वितत रहता है । २१वें (इक्कीसवें) अहर्गण पर सूर्य्य है । इसमें पारमेष्ठ्य-सोम की आहुति होती रहती है । इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञ से सारे विश्व का निर्म्माण हो रहा है एवं इसी यज्ञ से सारा विश्व प्रतिष्ठित हो रहा है । यज्ञ में अध्वर्यु-होता-

---

१ शत० ब्रा० १३।२।७।७ ।

उद्गाता-ब्रह्मा–ये चार ऋत्विक् होते हैं। इस प्रकृति-यज्ञ में अध्वर्यु तो वायु है एवं पार्थिवाग्नि 'होता' है। आदित्य उद्गाता है एवं चन्द्रमा ब्रह्मा है। अग्नि से ऋग्वेद उत्पन्न होता है–वायु से यजुर्वेद होता है। आदित्य से सामवेद उत्पन्न होता है एवं चन्द्रमा से अर्थात्–सोम से अथर्ववेद उत्पन्न होता है। इन चारों वेदों के अधिष्ठाता–चार ऋत्विक्–सदा इस प्रकृति-यज्ञ का सञ्चालन किया करते हैं। इसी प्रकृति की नकल पर भारतीय महर्षियों ने यज्ञ-विद्या का आविष्कार किया था। चूँकि प्रकृति में ४ (चार) ऋत्विक् थे, अतएव यहाँ भी चार ऋत्विक् कायम करने पड़े। प्रकृति में चारों के वेद नियत थे, अतएव यहाँ भी अध्वर्यु यजुर्वेदी को ही बनाया गया। होता ऋग्वेदी को ही बनाया, उद्गाता सामवेदी को बनाया गया एवं ब्रह्मा अथर्ववेदी को बनाया गया। सारा संसार मन-प्राण-वाङ्मय है। प्राण-व्यापार वायु से होता है क्यों कि गति वायु में ही है एवं मनोव्यापार चन्द्रमा से होता है, क्यों कि मन चन्द्रमा से ही बना हुआ है एवं वाक्-व्यापार अग्नि से ही होता है। इसीलिए **अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्**[1] यह कहा जाता है। इस प्रकार तीनों के कार्य्य नियत हैं, परन्तु मन तीनों में रहता है। बिना मन के प्राण-व्यापार भी नहीं होता एवं वाग्-व्यापार भी नहीं होता, अतएव चतुर्वेदी को ही ब्रह्मा बनाया जाता है। ब्रह्मा तीनों का निरीक्षण करता है, अतएव उसे चारों वेद जानने पड़ते हैं। कहना हमें यही है कि प्रकृति-यज्ञ में चन्द्रमा ब्रह्मा है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"तस्याग्निर्होताऽऽसीत्। वायुरध्वर्युः। सूर्य्य उद्गाता। चन्द्रमा ब्रह्मा" इति ॥[2]

इसी चन्द्रमा-ब्रह्मा के लिए–**ब्रह्माकृष्णश्च नोऽवतु** यह कहा गया है। इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

चन्द्रमा वै ब्रह्माकृष्णः[3] **इति**। वाजसनेय श्रुति कहती है कि मन्त्र में जिसे कृष्णब्रह्मा बतलाया है–उससे चन्द्रमा ही अभिप्रेत है। इस प्रकार

---

१ ऐ०उप० २।४। २ गोपथ ब्रा०पू० १।१३। ३ शत०ब्रा० १३।२।७।७।

इस श्रुति-प्रमाण से हम इस चन्द्रमा को अवश्य ही कृष्ण कहने के लिए तय्यार हैं।

तथाहि—'ब्रह्माकृष्णश्च नोऽवतु'—इति। यजुर्मन्त्रव्याख्यायां 'चन्द्रमा वै ब्रह्माकृष्णः' इति वाजसनेयश्रुतावयं चन्द्रः कृष्ण इत्यभ्युपगम्यते'॥

विज्ञान से सर्वथा अपरिचित, जो यजुर्वेद के भाष्यकार महीधर हैं उनका जो **ब्रह्माकृष्णश्च** को **ब्रह्मा-अकृष्णश्च**—यह अर्थ करना है—वह सर्वथा अशुद्ध है—अवैज्ञानिक है—अतएव त्याज्य है। उन्हें आकाश में कभी चन्द्रमा काला नहीं दीखा। उन्होंने जब कभी चन्द्रमा को देखा, तब-तब ही उन्हें वह सफेद ही मिला। परन्तु श्रुति में मिला—**ब्रह्माकृष्णश्च**—यह वाक्य। बस, इसीलिए उन्होंने **ब्रह्माकृष्णश्च** का **ब्रह्मा-अकृष्णः**—यह पदच्छेद कर डाला। परन्तु हमारे खयाल से यह उनकी बड़ी भारी भूल है। विज्ञान न जानने के कारण कृष्ण का अकृष्ण अर्थ किया गया है। चन्द्रमा का जो-जो प्रकाश है—वह अपना नहीं है—अपितु सूर्य्य का है। चन्द्रमा तो सर्वथा काला है। चन्द्रमा पर जब सूर्य्य रश्मियाँ आती हैं तो चन्द्रमा चमकने लगता है। जिस ओर सूर्य्य का प्रकाश रहता है—उसके ठीक बर-अक्स (प्रतिपक्ष) पृष्ठभाग में चन्द्रमा के प्रातिस्विक कृष्ण वर्ण का हमें प्रत्यक्ष ही दर्शन होता रहता है। आप द्वितीया-तृतीयादि तिथियों के एक-द्विकलादियुक्त चन्द्रमा को देखिए। आपको उन प्रकाशित कलाओं के अतिरिक्त सारा चन्द्रमा काला दिखलाई पड़ेगा। इससे मानना पड़ता है कि चन्द्रमा में जो प्रकाश दिखलाई पड़ता है—वह वस्तुतः चन्द्रमा की वस्तु नहीं है। चन्द्रमा की ज्योति अपनी नहीं है—अपितु सूर्य्य की है। सूर्य्य-ज्योति ही चन्द्र-ज्योति बनी हुई है—वह प्रकाश चन्द्रमा की वस्तु नहीं है—अपितु सूर्य्य की वस्तु है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे" इति॥[1]

---

१ ऋग्वेद मं० १।८४।१५।

"अत्राह-(अत्रहि) चन्द्रमसो गृहे-त्वष्टुः (सूर्य्यस्य) अपीच्यम्-(अतिसुन्दरम्) गोः-(किरणस्य) इत्था (इत्थम्) नाम-(नमनम्) अमन्यत" ॥

ऋग्वेद-श्रुति कहती है कि इस चन्द्रमा के घर में सूर्य्य की जो सुन्दर किरणें हैं-इनका नमन वैज्ञानिक लोग इस प्रकार मानते हैं। वेद में **ऋचितनुघमक्षुतङ्कत्रोरुष्याणाम्**-इस सूत्र से दीर्घ हो जाया करता है, अतएव 'अत्र' के स्थान में 'अत्रा' हो जाता है। श्रुति कहती है-इस चन्द्रमा के घर में अर्थात् पिण्ड में सूर्य्य की जो गौ हैं-उनका सम्बन्ध माना गया है। द्वादश-प्राण-समष्टि का नाम सूर्य्य है। उसमें रूप-प्रतिष्ठा के अधिष्ठाता प्राण का नाम-'त्वष्टा' है, अतएव-**त्वष्टा रूपाणि पिंशतु**[1] यह कहा जाता है। इसी त्वष्टा का जो अति मनोहर प्रकाश है-किरणें हैं-वैज्ञानिक लोगों द्वारा इस प्रकाश का चन्द्रमा के घर में नमन माना गया है। श्रुति में-'अपीच्यम्' पद का संनिवेश है। सूर्य्य का जो प्रकाश है-वह चुभता है, परन्तु वही सूर्य्य-प्रकाश चन्द्रमा से युक्त हो कर आह्लादकर बन जाता है, अतएव-'अपीच्यम्' कहा गया है। अपिच-'इत्था' पद से आकाश की ओर दृष्टि दिलाई जाती है। 'इत्था' से आकाशस्थ चन्द्रमा की तरफ अंगुली का इशारा करके बतलाया जाता है कि जैसा तुम ने प्रत्यक्ष आँखों से देखा है, उस प्रकार से गौ का-सूर्य्य किरण का-चन्द्रमा के घर में नमन माना गया है। चन्द्रमा में जो प्रकाश देख रहे हो, वह वस्तुतः सूर्य्य की किरणों की नति है-उनका नमन है-श्रुति का यही तात्पर्य है। इस प्रकार-**अत्राह गोरमन्वत**-इत्यादि श्रुति से स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है कि चन्द्रमा-सूर्य्याधीन जो ज्योति है-उसी से ज्योतिष्मान हो रहा है। चन्द्रमा में जो प्रकाश है, वह चन्द्रमा की अपनी वस्तु नहीं है अपितु, सूर्य्य की वस्तु है। कहना इस प्रपञ्च से हमें यही है कि चन्द्रमा सर्वथा कृष्ण है। प्रकाश आश्रितधर्म्म है-कृष्णत्वस्वरूप-धर्म्म है। हम जिस प्रकाश को देख रहे हैं-वह आश्रितधर्म्म है-न कि चन्द्रमा का स्वरूप धर्म्म। इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

---

१ बृहद् आ० उप० ६।४।२१।

"अकृष्ण इति महीधरव्याख्यानं तु अवैज्ञानिकम् । सूर्य्यप्रतिदिशि चन्द्रस्य स्वरूपेण कृष्णतायाः प्रतीयमानत्वात् । अत्राह गोरमन्वत इति मन्त्रश्रुत्या चन्द्रस्य सूर्य्याधीनज्योतिष्मत्वावगमाच्च" ॥

इस वैहायस कृष्णचन्द्र में क्रम से उतरा हुआ जो सत्यकृष्ण है-वह क्रमावतारत्वेन इस मानुषकृष्ण में आ जाता है । अर्थात् चन्द्रमा में जो सत्यकृष्ण है-वह पहले पृथिवी में आता है-पृथिवी द्वारा जीवों में आता है । एक तो यह क्रम है । संसार में जितने भी प्राणी हैं-उन सब में यह सत्य मौजूद है । परन्तु डायरेक्ट (सीधा) न आ कर पृथिवी द्वारा आता है । परन्तु भगवान् कृष्ण में जीवपने के सत्य के साथ-साथ ही चन्द्रसत्य का डायरेक्ट भी सम्बन्ध होता है । अन्य जीवात्माओं की अपेक्षा भगवान् श्रीकृष्ण में यही विशेषता है । भगवान् कृष्ण में क्रमावतारत्वेन जीव-सत्य तो है ही-परन्तु चन्द्रमा के सत्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी होता है । खाली चन्द्रमा का ही नहीं अपितु, परमेष्ठी का और सूर्य्य का भी अंश आता है । श्रीकृष्ण भगवान् में परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-जीव ये पाँचों सत्य मौजूद हैं । इस मनुष्य श्रीकृष्ण का अन्य जीवात्माओं की अपेक्षा यही वैशिष्ट्य है । सूर्य्य-परमेष्ठी से जो-जो धर्म्म इनमें आते हैं-उनका विस्तृत विवेचन पूर्व के कृष्ण-रहस्यों में किया जा चुका । प्रकृत में कृष्ण-चन्द्र का स्वरूप बतलाना है । भगवान् कृष्ण में चन्द्रमा में उतरे हुए सत्यकृष्ण का भी अंश आता है-अतएव इस मानव श्रीकृष्ण को समुद्र के बीच में द्वारिका बसा कर उसमें रहना पड़ा । जिस देवता से जिसका आत्मा बनता है-उसमें उस देवता के सारे धर्म्म आ जाते हैं । यदि किसी के आत्मा में इन्द्र-देवता की मात्रा अधिक होगी तो उसके मिजाज में अधिक चाञ्चल्य होगा । जिसके आत्मा में आसुर भाव अधिक मात्रा से प्रविष्ट होंगे-वह क्रूर प्रकृति का होगा । जिस देवता से आत्म-निर्म्माण होगा करीब-करीब उस देवता के सारे धर्म्म इसमें प्रविष्ट रहेंगे । युधिष्ठिर-धर्म्म के अंश से उत्पन्न हुए थे, अतएव उनका आत्मा धर्म्ममय था । कृष्ण के बहुत दबाने पर भी उस धर्म्म-मूर्ति से स्पष्ट शब्दों में 'नरः' न कहा गया अपितु-नरोवा कुञ्जरो वा यही कहा गया । अर्जुन का आत्मा इन्द्र से बना हुआ था, अतएव उसके शरीर में इतनी चञ्चलता थी कि जिसके दूर करने के लिए भगवान् को गीता का उपदेश देना पड़ा । कहना यही है कि जिसके आत्मा में जिस देवता

का अंश अधिक मात्रा से रहता है—उसमें उसी के धर्म्म प्रविष्ट रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का आत्मा वैहायस सत्यकृष्णचन्द्र के अंश से बना हुआ था, अतएव जो-जो धर्म्म उस वैहायस कृष्णचन्द्र में है—उन धर्म्मों की सत्ता इस मनुष्य श्रीकृष्ण में भी विद्यमान थी। वैहायस कृष्णचन्द्र अन्तरिक्ष में—आपोमय समुद्र में—विहार करते हैं। चन्द्रमा का गोला स्वयं सोम-पिण्ड है एवं उसके चारों ओर वायुमय पानी भरा हुआ है। पृथिवी और सूर्य्य तक सात समुद्र हैं, जिन्हें कि 'अर्णव' समुद्र कहा जाता है। इन सातों समुद्रों का दिग्दर्शन 'ईश्वरकृष्ण-रहस्य' में कर दिया गया है। पृथिवी पिण्ड है। सूर्य्य भी पिण्ड है, अतएव दोनों सत्य कहलाते हैं। इन दोनों के बीच का जो वायुस्वरूप आपोमय समुद्र है—वह अशरीरत्वात् ऋत कहलाता है। इस आपोमय ऋतापरपर्य्यायक अन्तरिक्ष में यह वैहायस चन्द्रमा भ्रमण किया करता है। यह तो हुआ युक्तिवाद—अब लीजिए प्रमाण। चन्द्रमा पानी के बीच में घूमता रहता है, इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि। रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं हरिरेति कनिक्रदत्" इति[1]।।

श्रुति कहती है कि पानी के अन्दर यह चन्द्रमा नाम का पक्षी इस द्युलोक में दौड़ लगाता रहता है। चूँकि भगवान् मनुष्य श्रीकृष्ण के आत्मा में इस वैहायस सत्यकृष्ण का भी अंश अवतीर्ण हुआ था एवं जिसके आत्मा में जिस देवता का अंश होता है—उसके धर्म्म भी उस आत्मा में अनुस्यूत रहते हैं—यह सिद्धान्त है, अतएव तत्प्रकृतिक भगवान् कृष्ण को बाध्य हो कर समुद्र के बीचों बीच द्वारिका बसानी पड़ी। उनके आत्मा में बैठे हुए उस कृष्णचन्द्र सत्य ने उन्हें ऐसा करने को बाध्य किया। भगवान् कृष्ण समुद्र में द्वारिका बसा कर रहे—यही—इसका सबसे बड़ा भारी प्रमाण है कि भगवान् श्रीकृष्ण में परमेष्ठिवत् वैहायस सत्यकृष्ण का भी अंश था। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अस्मिंश्च वैहायस कृष्णचन्द्रेऽवतीर्णोऽयं सत्यःकृष्णः क्रमावतारादिह मानुषकृष्णे संनिधत्ते। अतएवायं मानुषःकृष्णः कालेनाप्सु समुद्रे द्वारकायां

---

१ यजुर्वेद ३३।६०।

कृतायतनो निवसतिस्म । तद्देवकृतात्मा मानुषस्तद्देवप्रकृतिको भवतीति-सिद्धान्तात्–अस्यहि वैहायसकृष्णचन्द्रस्य–'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि'[1] इति मन्त्रश्रवणादन्तरिक्षेऽप्सुविहरणस्वाभाव्यानुगमात्" ।।

इस वैहायस कृष्णचन्द्र में अवतीर्ण जो स्वयम्भू सत्यकृष्ण है–वह क्रमावतार से इस मानुष श्रीकृष्ण में अवतीर्ण हुआ है अर्थात् सबसे पहले वह स्वयम्भू-सत्य परमेष्ठी में उतरा है–बाद में सूर्य्य में उतरा है । बाद में चन्द्रमा में उतरा है । बाद में पृथिवी में उतरा है । बाद में मनुष्य-कृष्ण में अवतीर्ण हुआ है । बस, मनुष्य श्रीकृष्ण में उतरा हुआ जो वैहायसकृष्ण-सत्य है–उसकी उपासक लोग मनुष्यरूपेणैव उपासना करते हैं । हम लोग मनुष्यकृष्ण में जो सत्य उतरा हुआ है–उसकी मनुष्यकृष्णरूपेणैव उपासना करते हैं–न कि वैहायस कृष्णचन्द्र की । उपासक मनुष्य हैं, पृथिवीलोक पर रहने वाले हैं–अतएव लोकान्तर (अन्तरिक्ष) में रहने वाले सत्य की अपेक्षा से पृथिवीलोक पर ही रहने वाले सत्य की उपासना करना उचित है । चन्द्रमा में जो सत्य उतरा है–वह हमारे से दूर है एवं मनुष्य वासुदेव श्रीकृष्ण में जो सत्य उतरा है–वह हमारे नजदीक की वस्तु है, अतएव उसकी उपासना करने के बजाय मनुष्य श्रीकृष्णस्थसत्य की उपासना करना ही उचित है । हम चाँद की तस्वीर बना कर चान्द्र सत्यकृष्ण की उपासना नहीं करेंगे अपितु, मनुष्य श्रीकृष्ण की प्रतिमा बना कर इसी सत्य की उपासना करेंगे–क्यों कि हमारे नजदीक इसी सत्य का प्रत्यक्ष होता है—

"स चायं वैहायसकृष्णचन्द्रेऽवतीर्णः सत्यः कृष्णः क्रमावतारादिह मानुषे कृष्णेऽवतीर्णो मानुषस्वरूपेणैवोपास्यते । उपासकानां मनुष्यतया लोकान्तरस्थसत्यापेक्षया मानुषसत्यस्य सालोक्येन (समानलोकस्थत्वेन) अतिसन्धीयमानत्वात्" ।।

जैसे पारमेष्ठीकृष्ण बिना राधा के नहीं रहते एवं सूर्य्यकृष्ण चाक्षुष-कृष्ण जैसे बिना राधा के नहीं रहते, तथैव यह वैहायस कृष्णचन्द्र भी बिना राधा के नहीं रहते । राधा ही कृष्ण का प्राण है । यदि राधा नहीं है तो

---

१ यजुर्वेद ३३।९० ।

कृष्ण ही नहीं है। कृष्ण राधा के बिना सर्वथा अनुपपन्न है–बिना राधा के कृष्ण छुपा रहता है। बिना राधा के कृष्ण की तबियत मुरझाई रहती है। राधा के बिना वे लोगों की आँखों के सामने नहीं आना चाहते। राधा ही इनका सर्वस्व है। बस, इस कृष्णचन्द्र के साथ रहने वाली कृष्ण-प्राणप्रिया जो राधा है–उसी का वैज्ञानिक स्वरूप बतलाया जाता है—

"राधा"

परमेष्ठीकृष्ण के साथ जो राधा रहती है–वह वक्षःस्थलस्थिता कहलाती है। यह नित्या राधा है। गोलोकनाथ के वक्षःस्थल से (परमेष्ठिमण्डल से) राधा (प्रकाशमयी रोदसी) सदा आलिङ्गित रहती है। परन्तु इस वैहायसकृष्ण के साथ दो राधाओं का सम्बन्ध होता है। भगवान् वैहायस कृष्णचन्द्र के साथ दो राधा रहती हैं। एक का नाम है–कृष्णप्राणा दूसरी का नाम है–रासेश्वरी। कृष्णप्राणाराधिका परमेष्ठिवत् कृष्णचन्द्र के वक्षःस्थल पर सदा ही आलिङ्गित रहती है। यह कृष्णवक्षःस्थलस्थिता राधा सर्वथा नित्या है। बिना इसके कृष्ण एक क्षण भी नहीं रह सकते हैं। चूँकि यह कृष्ण से कभी अलग नहीं होती, अतएव पुराणों में इसे 'कृष्णप्राणा' बतलाया जाता है। प्राण से ही जीवन रहता है। प्राण न रहे तो जीवन-सत्ता ही न रहे। चूँकि राधा चन्द्रसत्ता के बिना नहीं रहती, अतएव राधा को 'कृष्णप्राणा' बतलाया जाता है। यह कृष्णप्राणा राधा कृष्ण के वक्षःस्थल से कभी भी अलग नहीं होती है, जैसा कि भगवान् व्यास कहते हैं—

"कृष्णप्राणाधिदेवी सा कृष्णप्राणाधिकप्रिया।
कृष्णस्य संगिनी शश्वत् कृष्णवक्षःस्थलस्थिता ॥"[1]

पुराण कहता है–कृष्णप्राणा-कृष्ण को अपने प्राणों से भी प्रिय लगने वाली–वह राधा निरन्तर कृष्ण के साथ कृष्णवक्षःस्थल पर ही रहती है। वह कृष्ण के वक्षःस्थल से कभी भी अलग नहीं होती है। इस पुराण-वचन

---

१ देवी भा० पुराण ६।२।४६

से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि राधा और कृष्ण कोई नित्य पदार्थ हैं। क्यों कि मनुष्य-श्रीकृष्ण में **कृष्णवक्षःस्थला–कृष्णस्य संगिनी शश्वत्**–इन बातों का सम्बन्ध ठीक-ठीक नहीं बैठता। मनुष्य श्रीकृष्ण की छाती से–राधा नाम की स्त्री सदा चिपकी रहती थी–एक क्षण के लिए भी वह कृष्ण के वक्षःस्थल से अलग नहीं होती थी–यह बात वैज्ञानिक श्रेणी में कभी नहीं मानी जा सकती। इस पुराण से नित्य राधाकृष्ण ही अभिप्रेत हैं–न कि मनुष्य राधाकृष्ण। नित्यराधाकृष्ण में इस पुराण का समन्वय यथावत् हो जाता है। नित्य-राधाकृष्ण में वास्तव में राधा सदा कृष्ण के वक्षःस्थल पर ही रहती है। वह नित्याराधा नित्यश्रीकृष्ण के वक्षःस्थल से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होती है—

"अथैकस्मिन् वैहायसे कृष्णे द्वितीया राधा विवक्ष्यते। कृष्णप्राणा च रासेश्वरीचेति। तत्रेयं कृष्णवक्षस्थलात् नान्यत्रोपपद्यते"।

"कृष्णप्राणाधिदेवी सा कृष्णप्राणाधिकप्रिया।
कृष्णस्य संगिनी शश्वत् कृष्णवक्षःस्थलस्थिता" इति ॥[1]

वह कौनसी राधा है–जो कृष्णवक्षःस्थल पर ही सदा आलिङ्गिता रहती है? एवं वह कौनसा कृष्ण है–जिसके वक्षःस्थल पर राधा रहती है? यह जिज्ञासा होती है। इसमें कृष्ण का स्वरूप तो बतला दिया गया। आकाश में–अन्तरिक्ष में–आपोमय समुद्र में–जो चन्द्रमा दिखलाई पड़ता है जो कि प्रातिस्विकरूपेण सर्वथा काला है–वही 'नित्य-कृष्ण' है। सृष्टि के प्रारम्भ में भी यह चन्द्रमा था, अब भी है और अन्त तक रहेगा। भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान तीनों कालों में इस चन्द्रमा की, वैहायस कृष्ण की, सत्ता मौजूद है, अतएव हम इस कृष्ण को 'नित्य' कहने के लिए तय्यार हैं। 'इस कृष्णवक्षःस्थल पर रहने वाली जो नित्याराधा है'–वह यही चन्द्र-प्रकाश है। चन्द्रमा के आधे भाग में संपरिष्वक्ता जो गौर-वर्ण चन्द्रिका है–वही 'राधा' समझनी चाहिए। चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है–जैसा कि 'रास-रहस्य' में बतलाया जाएगा। चन्द्रमा गोल है। इसका आधा भाग सदा ही प्रकाशित रहता है। शुक्लपक्ष की द्वितीया-तृतीया आदि तिथियों में यद्यपि हमें चन्द्रमा की एक-दो

---

१ देवी भा० पुराण ९।२।४६।

कलाएँ ही प्रकाशवती दिखलाई पड़ती हैं, परन्तु विज्ञान दृष्टि से देखने पर उन तिथियों में भी उसका आधा गोला प्रकाशित ही दिखलाई देगा। चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर घूमता है—हमने यह अनुपद में ही कहा है। जिस समय घूमते-घूमते वह सूर्य्य और पृथिवी के बीच में आ जाता है तो उसका प्रकाशमय आधा भाग चूंकि सूर्य्य की ओर चला जाता है, अतएव पृथिवी-लोक पर रहने वाले हम मनुष्यों को उसके दर्शन नहीं होते, अतएव हम मान बैठते हैं कि इस दिन चन्द्रमा है ही नहीं। परन्तु मान बैठना दूसरी बात है-वस्तुस्थिति दूसरी बात है। आँखों में पीलिया हो रहा है—इससे सफेद वस्तु भी पीली दिखलाई पड़ने लगती है। परन्तु क्या वस्तुतः उसे पीला कहा जा सकता है ? हर्गिज नहीं। ठीक इसी प्रकार अमावास्या को भी वही चन्द्रमा रहता है जो कि पूर्णिमा को रहता है। अन्तर इतना है कि अमावास्या को पृथिवी और सूर्य्य के बीच में रहता है, अतएव प्रकाश-भाग हमें नहीं दीखता एवं पूर्णिमा को पृथिवी के पृष्ठ-भाग में रहता है, अतएव इस दिन चन्द्रमा का आधा गोला प्रकाशित दीखने लगता है। इसी प्रकार अष्टमी आदि तिथियों में भी उसे आधा प्रकाशित ही समझना चाहिए। हमें पृथिवी की आड के कारण उसकी एक कला दो कला दीखती हैं, वस्तुतः वह सदा आधा प्रकाशयुक्त ही रहता है। एक घड़े को बीच में रख लीजिए एवं घड़े से पूर्व ऊँचा एक दीपक रख दीजिए। उस घड़े के ऊपर चारों ओर एक गोल लट्टू फिराइये। उसका आधा भाग सदा ही प्रकाशित रहेगा। ठीक इसी प्रकार पृथिवी के चारों ओर घूमने वाला जो चन्द्रमा है—उसका आधा भाग सदा ही प्रकाशित रहेगा। बस, यह जो प्रकाश है-चन्द्रिका है—इसे ही हम राधा कहने के लिए तय्यार हैं। सूर्य्य की प्रतिमूर्च्छित जो चन्द्रमा में प्रतिष्ठित चन्द्रिका है—वही राधा है। यह राधा अर्थात् चन्द्रिका सूर्य्य से उत्पन्न होती है, अतएव इसे **वृषभानुसुता** कहा जाता है। वृषा इन्द्र को कहते हैं—जैसा कि अमरकोषकार कहते हैं—**वासवो वृत्रहा वृषा इति**। प्रत्येक पदार्थ में भूत और प्राण—दो वस्तुएँ रहती हैं। प्राण अमृततत्त्व है—भूत मृत्युतत्त्व है। अमृत के बिना मृत्यु एक क्षण भी नहीं रह सकती। दोनों अविनाभूत हैं। भूत का आलम्बन यही प्राण है। भूत अपने स्थान पर ही रहता है—प्राण भूत से बड़ी दूर तक जाया करता है। प्राण का नाम—चितेनिधे है एवं भूत का नाम चित्य है। हम जो पिण्ड देख

रहे हैं–वे सब चित्य कहलाते हैं एवं इन से बाहर निकलने वाला जो अमृत प्राण है–वह चितेनिधेय कहलाता है। चित्य भूतपिण्ड का नाम है। पिण्ड से बाहर वितत होने वाला चितेनिधे प्राण है। श्रुति कहती है–**नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः इति**[१]। परन्तु सूर्य्य का जो गोला है, वह तो मृत्यु-पिण्ड है। वह तो अपने स्थान से अणुमात्र भी नहीं हटता। ऐसी अवस्था में 'सूर्य्येण' का 'इन्द्रेण' अर्थ करना पड़ता है। सूर्य्य चित्यपिण्ड से बाहर निकलने वाला जो चितेनिधे नाम का सौर प्राण है–वही 'इन्द्र' कहलाता है। प्राण-भूत अविनाभूत हैं, अतएव 'इन्द्रेण' न कह कर 'सूर्य्येण' कह दिया गया है। इसी सूर्य्य से अर्थात् इन्द्र से विष-उपविष-धातु-उपधातु-रस-उपरस इत्यादि यच्चयावत् पदार्थ बरसते हैं, अतएव इस इन्द्र को वर्षणशीलत्वात् 'वृषा' कहा जाता है। जैसे पृथिवी-पिण्ड का प्राण अर्थात् आत्मा अग्नि है–तथैव सूर्य्य-पिण्ड का आत्मा-इन्द्र है। अतएव श्रुति कहती है—

"यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" इति ॥[२]

चूंकि सूर्य्य इन्द्रमय है एवं इन्द्र को हम वृषा कहते हैं–अतएव '**वृष वै भानुः**' इस व्युत्पत्ति से हम सूर्य्य को 'वृषभानुः' कह सकते हैं। **इन्द्रात्मकः सूर्य्यः** का **वृषभानुः** यही तात्पर्य्य है। इस वृषभानु की अर्थात् सूर्य्य की रश्मियों से ही चूंकि यह चन्द्रिका उत्पन्न होती है–अतएव इसे 'वृषभानुसुता' कहा जाता है। इन्द्ररश्मि से उत्पन्न होने वाली जो चन्द्रिका है–वही राधा है। इस चन्द्राश्रित भक्ति (भाग, हिस्सा) को सूर्य्यांशु से समृद्ध होने के कारण राधा नाम से व्यवहृत किया जाता है। कृष्णचन्द्रस्थ यह चन्द्रिका सूर्य्य किरणों से साधित है–उत्पादित है–अतएव इस चन्द्रिका को **राधसंसिद्धौ** से 'राधा' कहा जाता है। 'राध' धातु का अर्थ है संसिद्धि होना। चन्द्रमा की चन्द्रिका चूंकि सूर्य्य से राधित है–अर्थात् संसाधित है, अतएव हम इसे 'राधा' कहने के लिए तय्यार हैं—

"अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे" ॥[3]

---

१ ऋग्वेद मं० ७।६३।४। २ शत०ब्रा० १४।६।४।२१।

३ ऋग्वेद मं० १।८४।१५।

इस मन्त्र-श्रुति से यह चन्द्रिका सूर्य्य-किरणों से ही उत्पन्न होती है–यह सिद्ध होता है। चन्द्रिका सूर्यकिरण द्वारा ही संसाधित है। इसमें पूर्व-श्रुति ही प्रमाण है। इस प्रकार वृषभानुसुता–चन्द्रिका के प्रकाश से यह कृष्णचन्द्र सदा युक्त रहते हैं। इनके वक्षस्थल से यह राधा कभी भी अलग नहीं होती। परन्तु इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि पूर्णिमा में–अन्तर्हित कृष्ण और राधिका के ही दर्शन होते हैं अर्थात् पूर्णिमा को कृष्णभाग नहीं दिखलाई पड़ता अपितु, चन्द्रिका ही (राधा ही) दिखलाई पड़ती है। पूर्णिमा में राधा ने कृष्ण को छुपा रक्खा है एवं अमावास्या में अन्तर्हित राधा-कृष्ण के ही दर्शन होते हैं। उस दिन चन्द्रिका कृष्ण के पीछे रहती है एवं द्वितीया-तृतीया आदि तिथियों में राधा-कृष्ण दोनों ही के दर्शन होते हैं। द्वितीयादि तिथियों में चन्द्रिका और कृष्ण दोनों भागों के दर्शन होते हैं। बस, यही कृष्णवक्षःस्थल-स्थिता पहली नित्या राधा है। यह कृष्ण से कभी अलग नहीं होती—

"सेयं वृषभानुसुता नाम। इन्द्रो वृषा सूर्य्यात्मा। 'यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'[1] तिमन्त्रश्रवणात्। तस्य भानुरश्मिरिमां चन्द्रिकां प्रसूते-इति कृत्वा सा वृषभानुसुतोच्यते। तामेतामाश्रितां भक्ति सूर्य्यांशुस्तेन राधितत्वात्–(संसाधितत्वात्-उत्पादितत्वात्) राधां नाम आचक्ष्महे" ॥

भाष्यकार ने **तामेतामाश्रितां भक्ति** कहा है। इससे यही सिद्ध करते हैं कि चन्द्रिका अर्थात् प्रकाश चन्द्रमा का स्वरूप-धर्म्म नहीं है, अपितु, आश्रित धर्म्म है–आगन्तुक धर्म्म है—

"अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् इत्था चन्द्रमसो गृहे–इति मन्त्र श्रुत्या सूर्य्यांशोरेव चन्द्रिकात्वेनोपगन्तव्यत्वात्। तथा च पूर्णिमायामन्तर्हित कृष्णा राधिकैवेयं भासते। अमायां त्वन्तर्हितराधः कृष्ण एवोपपद्यते। अंशतस्तू-भयावन्यत्रेति भावयेत्" ॥

इत्येका प्रतिपत्तिः ॥१॥

कृष्णचन्द्र के वक्षःस्थल पर नित्य आलिङ्गित रहने वाली जो कृष्ण-प्राणाराधिका है–उसका स्वरूप बतला दिया गया। अब रासेश्वरी राधा का

---

१ शत०ब्रा० १४।६।४।२१।

स्वरूप बतलाते हैं–यह राधा रास-स्थल में ही कृष्ण से आलिङ्गित होती है। इसका कृष्ण के साथ सदा ही सम्बन्ध नहीं रहता। चूँकि केवल रासगृह में–रासावास में–इसका कृष्ण के साथ सम्बन्ध होता है–अतएव इसे 'रासेश्वरी' राधा कहा जाता है ! यह राधा अनित्या है। महिने में एक दिन वर्ष भर में एक दिन–कार्त्तिक शुक्ला पूर्णिमा को–इसका कृष्ण के साथ सम्बन्ध होता है। रासेश्वरी राधा वक्षःस्थलस्थिता कृष्णप्राणा नित्याराधा से भिन्न है एवं इसका सम्बन्ध केवल रासावास में ही होता है–इसमें निम्नलिखित स्मृति ही प्रमाण है। स्मृति कहती है—

"रासेश्वरी सुरसिका रासावासनिवासिनी।
गोलोकवासिनी देवी गोपीवेषविधायिका" ॥ इति[1]

सुरसिका, सुप्रसन्ना, रासघर में ही रहने वाली जो राधा है–वह गोपी वेष बना कर अर्थात् गोपी के रूप में-व्रज में अवतार ले कर गोलोकनाथ के अवतार भगवान् कृष्ण के साथ रास-क्रीड़ा करती है–यही इस श्लोक का तात्पर्य्य है। 'रासावासनिवासिनी' से स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है कि यह राधा कृष्ण-प्राणराधा से सर्वथा पृथक् है। केवल रास के घर में ही यह कृष्ण के साथ रहती है। राधा वास्तव में दो हैं। इस विषय में अन्य प्रमाण इस रहस्य के अन्त में बतलाए जाएँगे। प्राणप्रिया राधा तो सूर्य्यांशु से संसाधित होने के कारण 'राधा' कहलाती थी परन्तु यह रासेश्वरी राधा सारे कार्य्यों को संसाधित करने के कारण राधा कहलाती है। यह रासेश्वरी राधा ही हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करती है–अतएव इसे 'राधा' कहा जाता है। इसी अभिप्राय से पुराण कहता है—

"राध्नोति सकलान् कामान् तस्माद् राधेति कीर्तिता"।[2]

यह रासेश्वरी सारे कामों को समृद्ध करती है–संसिद्ध करती है–अतएव इसे 'राधा' कहा जाता है। इस प्रकार सारी कामनाओं को संसिद्ध करने वाली जो रासेश्वरी राधा है–वह कृष्णप्राण से सर्वथा भिन्न है। कृष्ण-प्राणा

---

१ देवी० भा०पुराण ६।१।४८   २ देवी० भा०पुराण ६।५०।१८

वक्ष:स्थलस्थिता है, अतएव नित्या है एवं रासेश्वरी-रासावासनिवासिनी है—अतएव अनित्या है—

"अथ रासेश्वरी व्याख्यायते । सा च-गोलोकवासनिवासिनी चेति स्मर्य्यते-"रासेश्वरी" इत्यादि" ॥

"राध्नोति सकलान् कामान् तस्माद् राधेति कीर्तिता-इति सर्वकाम साधितत्वात् अस्या राधात्वं ब्रुवते" ॥

चन्द्रमा के साथ संलग्न जो प्रकाश है-चन्द्रिका है-उसे तो 'कृष्णप्राणा' वक्ष:स्थलस्थिता नित्या राधा कहते हैं। यह राधा नित्या है- इसमें निम्नलिखित स्मृति ही प्रामाण है—

"नित्यैवैषा जगन्माता हरेः श्रीरनपायिनी ।
यथा सवगतो विष्णुस्तथैवैषा जगन्मयी" ॥ इति

जो रासेश्वरी राधा है-वह विशाखानक्षत्र-रूपा समझनी चाहिए। २७ (सत्ताईस) नक्षत्रों में जो विशाखा नक्षत्र है-उसे ही 'राधा' कहते हैं। अतएव-**राधा विशाखा युज्यते** कहा जाता है। विशाखा का नाम राधा है, अतएव इसके आगे के नक्षत्र को 'अनुराधा' कहा जाता है। बस, विशाखा नक्षत्र-रूपा जो राधा है-उसी को हम रासेश्वरी राधा कहेंगे। आकाश में नक्षत्र कुल २७ (सत्ताईस) हैं। २७ (सत्ताईस) नक्षत्रों में भिन्न-भिन्न प्राण रहता है। किसी में प्राजापत्य प्राण रहता है, किसी में ऐन्द्राग्न प्राण रहता है, किसी में रौद्र प्राण रहा है-किसी में अश्विनी-प्राण रहता है-किसी में याम्य प्राण रहता है। उन-उन प्राणों को उन-उन नक्षत्रों का देवता माना जाता है। कृष्णप्राणा राधा के विवेचन में बतलाया था कि भूत और प्राण-दोनों अविनाभूत हैं। इनमें जो प्राण है-उसे ही देवता कहते हैं। बिना देवता अर्थात् प्राण के, भूत एक सेकण्ड भी नहीं रह सकते। हम जो नक्षत्र देख रहे हैं-वे सब भूतपिण्ड हैं। इनका जो आलम्बन प्राण है-वही उस नक्षत्र का देवता कहलाता है। २७ सों (सत्ताईसों) नक्षत्रों में भिन्न-भिन्न प्राण रहते हैं। वे २७ (सत्ताईस) प्राण-२७ (सत्ताईस) नक्षत्रों के देवता कहलाते

हैं। निम्नलिखित श्लोक से २७ (सत्ताईस) नक्षत्रों के देवताओं के नाम मालूम हो जाते हैं—

"नासत्यान्तकवह्निधातृशशभृद्रुद्रादितिज्योरगा।
ऋक्षेशाः पितरो भगोर्यमरवी त्वष्टा समीरक्रमात्॥

शक्राग्नी त्वथ इन्द्रमित्रनिर्ऋतिक्षीराणि विश्वोविधिः।
गोविन्दो वसुतोयपाजचरणाहिर्बुध्न्यपूषा विधाः" ॥

इन २७ (सत्ताईस) नक्षत्रों में जो विशाखा नक्षत्र है–उसके देवता का नाम ऐन्द्राग्नी है अर्थात् इन्द्राग्नि है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"दूरमस्मच्छत्रवो यन्तु भीताः तदिन्द्राग्नी कृणुतां तद्विशाखे।
तन्नो देवा अनुमदन्तु यज्ञम्। पश्चात् पुरस्तादभयं नोऽस्तु" ॥

अपिच–

"नक्षत्राणामधिपत्नी विशाखे। श्रेष्ठाविन्द्राग्नी भुवनस्य गोपौ।
विषूचः शत्रूनपबाधमानौ अप क्षुधं नुदतामरातिम्" ॥[1]

इन्द्र और अग्नि–ये दो ही देवता प्रधान हैं। अग्नि पृथिवीलोक के अधिष्ठाता हैं–इन्द्र द्युलोक के अधिष्ठाता हैं।

अतएव–**"यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।"[2]**

यह कहा जाता है। संसार के यच्चयावत् काम इसी पृथिवी और सूर्य्य से अर्थात् अग्नि और इन्द्र से होते हैं। जड़-चेतन यच्चयावत् पदार्थों का निर्म्माता पार्थिव रस और सौर रस ही होता है। पार्थिव रस का नाम अग्नि है एवं सौर रस का नाम 'इन्द्र' है। ये ही दो रोदसी-त्रिलोकी के नियन्ता हैं। चूँकि ये ही दोनों विशाखा नक्षत्र के देवता हैं अर्थात् प्राण हैं, अतएव हम विशाखा को सर्वार्थ सिद्ध करने वाली बतला सकते हैं। विशाखा में-अग्नि और इन्द्र दोनों मौजूद हैं। अग्नि से पार्थिव लोक की पुष्टि होती है

---

१ तै०ब्रा० ३।१।१।११–१२। २ शत०ब्रा० १४।६।४।२१।

एवं इन्द्र से दिव्य-लोक की पुष्टि होती है, अतएव हम इस विशाखा को लोक द्वयसाधनत्वात् राधा कहने के लिए तय्यार हैं। बस, यही रासेश्वरी राधा है। कार्त्तिक की पूर्णिमा को जब कि कृत्तिका पर चन्द्रमा रहता है एवं राधा (विशाखा) पर सूर्य्य रहता है—भगवान् कृष्णचन्द्र का इस राधा के साथ रास होता है। इस दिन रासेश्वरी राधा और वक्षस्थलस्थिता राधा दोनों एक बन जाती हैं। भगवान् कृष्णचन्द्र वक्षस्थलस्थिता राधा को साथ लिए हुए ही रासेश्वरी राधा से संयोग करते हैं। कृत्तिका पर जब चन्द्रमा रहता है एवं विशाखा पर सूर्य्य रहता है तो इस दिन कार्त्तिक की पूर्णिमा रहती है। इस दिन चन्द्रमा का आधा भाग शुक्ल रहता है। शुक्ल तो सदा ही रहता है, परन्तु इस दिन हमारी ओर यह चन्द्रिका रहती हैं एवं इस पूर्णचन्द्र के ठीक सामने विशाखा रहती है। इस दिन सूर्य्य इसी विशाखा पर रहता है। तो—चन्द्रमा की चन्द्रिका भी उस दिन रहती है एवं विशाखा से भी चन्द्रमा का सम्बन्ध रहता है। विशाखा रासेश्वरी राधा है—चन्द्रिका-कृष्ण प्राणा वक्षस्थलस्थिता नित्याराधा है। कार्त्तिक शुक्ला पूर्णिमा को इस चन्द्रिका का और विशाखा नक्षत्र के प्रकाश का सम्बन्ध हो जाता है। दोनों मिल कर एक चीज बन जाती है। चन्द्रिका और नक्षत्र-प्रकाश अलग नहीं रह पाते। इस दिन कृष्ण-प्राणा और रासेश्वरी दोनों एक हो जाती हैं। कार्त्तिक की पूर्णिमा को विशाखा रासेश्वरी राधा के साथ कृष्णचन्द्र को रास करता देख कर कृष्ण-प्राणा राधिका भी रासेश्वरी ही बन जाती है। रास-मण्डल में द्वैत-भाव नहीं रहता। वहाँ अद्वैत-सिद्धि हो जाती है। रस नाम आनन्द का है। जब ब्रह्मानन्द में—रासमण्डल में—आत्मा चला जाता है तो फिर सारे नाना-भाव नष्ट हो जाते हैं। कार्त्तिक पूर्णिमा में वक्षस्थलस्थिता रास-मण्डल में आ गई है—ऐसे समय में दोनों में भेद क्यों कर हो सकता है? रास-मण्डल में कृष्ण-प्राणा और रासेश्वरी दोनों एक हो जाती हैं। अतएव भगवान् व्यास कहते हैं—

"कृष्णप्राणाधिदेवी सा तदधीनो विभुर्यतः।
रासेश्वरी तस्य नित्यं तया हीनो न तिष्ठति–इति" ॥[1]

---

१ देवी भा० पुराण ९।५०।१७।

इससे—रासेश्वरी और कृष्णप्राणा दोनों को एक बतलाया गया है। यह इसी कार्त्तिकरासमण्डलाभिप्रायेण समझना चाहिए। वास्तव में रास-मण्डल में कृष्णप्राणा रासेश्वरी बन जाती है। इस राधा से कोई स्त्री-राधा न समझ लें, इसलिए **अधिदेवी सा** कहा गया है। अधिदेवी से उस आधिदैविकी राधा की ओर लक्ष्य कराया जाता है। पुराण की दृष्टि उस वैज्ञानिक राधा की ओर है– न कि मानुषी राधा की ओर। कहना सारे प्रपञ्च से हमें यही है कि सूर्य्य-रश्मि से उत्पादित-संसाधित जो चन्द्रमा की चन्द्रिका है—वह तो कृष्णवक्षस्थलस्थिता नित्या राधा है एवं विशाखा नक्षत्र-रूपा जो राधा है, वह 'रासेश्वरी' राधा है। इसका सम्बन्ध कार्त्तिक शुक्ला पूर्णिमा को ही होता है एवं इस दिन रासेश्वरी और कृष्णप्राणा दोनों का (चन्द्रिका का और नक्षत्र-प्रकाश का) एक रूप हो जाता है। इस प्रकार वैहायस कृष्णचन्द्र दोनों राधाओं के साथ विहार करते हुए आकाश में विचरा करते हैं—

"सेयं विशाखानक्षत्ररूपा भाव्या। तस्या ऐन्द्राग्नदेवताकतया लोक-द्वयात्मकत्वेन सर्वार्थसाधकत्वोपपत्तेः। कृष्णप्राणामपरित्यजन्नेव तु भगवान् कृष्णो रासमण्डले रासेश्वर्य्यासंयुनक्ति। तेनेयमुभयी रासमण्डले खल्वेका संपद्यते।[1] तथाच–स्मर्य्यते—

"कृष्णप्राणाधिदेवी सा तदधीनो विभुर्यतः।
रासेश्वरी तस्य नित्यं तया हीनो न तिष्ठति" ॥[2]

"रासः"

पुराणों में रास का बहुत विस्तृत वर्णन आया करता है। श्रीमद्-भागवत की जो रासपञ्चाध्यायी है–उसमें राधा ही का वर्णन है। आजकल रासलीला पर अनेक आक्षेप सुनाई पड़ते हैं। कई-कई मनचले तो यहाँ तक भी कह बैठते हैं कि यह सारी कपोल-कल्पना है। कृष्ण तो महापुरुष थे।

---

१ द्रष्टव्य विद्यावाचस्पति पं० मधुसूदन ओझा कृत "श्रीमद्भगवद्गीतायाः विज्ञानभाष्ये तृतीयमाचार्यकाण्डम्"। २ देवी० भा०पुराण ९।५०।१७।

उन्होंने गोपियों के साथ नाच किया था-यह कहना कृष्ण के कलङ्क लगाना है। पुराण तो अत्युक्ति का भण्डार है, अतएव उसकी ऐसी-ऐसी कपोल कल्पनाओं पर समझदार मनुष्यों को कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। एक महापुरुष–जिसने अर्जुन को गीता का उपदेश दे कर अपने महापुरुषत्व का–योगेश्वरत्व का–परिचय दिया है–वह व्रज की गोपियों के साथ नाचा होगा, सभ्य समाज इस बात को मानने के लिए कभी सर्वथा तय्यार नहीं होगा। अब अन्ध-भक्ति का समय नहीं है–यह वैज्ञानिक युग है। जो बात विज्ञान से साबित होगी-उसी को संसार में स्थान मिलेगा। जिस कृष्ण को ईश्वर माना जाता है–उसका स्त्रियों के साथ नाचना-कूदना बतलाना–क्या ईश्वर की ईश्वरता पर कलङ्क नहीं लगाना है? क्या कृष्ण-योगेश्वर कृष्ण–ऐसे विलासी थे? इतने कामी थे? जो परायी सधवा स्त्रियों के साथ रात्रि में रास-क्रीडा किया करते थे, अतएव कृष्ण के साथ जो रास-क्रीड़ा का लाञ्छन लगाया जाता है–उसके परिशोधन की नितान्त आवश्यकता है। रासलीला-रामलीला–इत्यादि-इत्यादि जो ढोंग ब्राह्मणों ने अपने उदर-पोषण के लिए बना लिए हैं–सभ्य समाज को चाहिए कि वह इनके विरुद्ध घोर क्रान्ति करे। इस प्रकार रासलीला आदि चरित्रों पर नाना प्रकार के आक्षेप किए जाते हैं एवं कृष्ण के परम भक्तलोग कानों में तेल डाले निद्रा में पड़े हुए है। क्या कहें? क्या न कहें? कहते डर लगता है कि कहीं आस्तिक समुदाय नास्तिक की उपाधि न दे दे? नहीं तो हम यहाँ तक कहने के लिए तय्यार हैं कि आज रासलीला आदि पौराणिक कथाओं पर सभ्य समाज के–रिफार्मरदल के–आक्षेप सुनाई पड़ते हैं वे सोलह आना–सोलह आना ही नहीं–सत्रह आना सच्चे हैं। वास्तव में आज का सारा धर्म्माचरण ढोंग है। सनातन धर्म्म के नियमों को व्याजधर्म्माचरण से कुचला जा रहा है। मन्दिरों में उपासना नहीं होती। मन्दिर तो पेरिस के विलास-भवन हैं। ठाकुरजी उपासना के साधक नहीं हैं–पेट-पूजा के साधक हैं। आप मन्दिर में दर्शन करने पधारिए–आपने यदि वहाँ एक रुपय्या भेंट का चढ़ा दिया तब तो आप ठाकुर जी के परम भक्त मान लिए जाएँगे। तुलसी चरणामृत, सब को हटा कर, पहले आप ही को मिलेगा। यदि आप यों ही दर्शन करके लौट गए तो आप नास्तिक

समझे जाएँगे। क्या आज मन्दिरों की यह लीला हम धर्म्म की दुहाई दे कर छुपा सकते हैं? दूसरों की आँखों में धूल झोंक कर उन्हें अन्धा बना सकते हैं? हर्गिज नहीं। आगे चलिए–हमारे मन्दिरों के महन्त और पुजारियों की ओर। उनका एकमात्र कर्त्तव्य है–गलीचों पर, गद्दों पर, आराम से पड़े रहना और भक्तों से पगचम्पी करवाना। आज महन्तों के महोदर में गरीब भारत की अतुल सम्पत्ति समा रही है। क्या उससे भारत की किंवा भारतीय धर्म्म की कुछ भी रक्षा हो रही है? हर्गिज नहीं। वह रुपय्या विलास-सामग्रियों में खर्च किया जाता है। कितने सन्त-महन्त ऐसे हैं-जिन्होंने सनातन-धर्म्म-प्रचार के लिए अपने महाकोश का शतांश भी दे रखा हो? दूर देश योरोप-अमेरिका आदि से लाखों रुपये खर्च करके पादरी लोग भारत में धर्म्म-प्रचार करने आते हैं एवं वे अपने प्रचार में पल्लवित एवं पुष्पित हो रहे हैं। परन्तु हमारे धर्म्म के अधिष्ठाता आनन्द में निमग्न हो रहे हैं। उन्हें चिन्ता है तो इस बात की कि कहीं हमारे आनन्द में विघ्न न आ जाए। मेरा यह मतलब नहीं है कि सारे सन्त महन्त ऐसे ही हैं। कितने ही ऐसे भी हैं-जिन्हें अपने कर्त्तव्य का खयाल है। उन्हें धर्म्म से प्रेम है। एक दल ऐसा है जो पुकार करने पर भी आँखें नहीं खोलता। उधर धूर्तकोटि मठाधीश-आचार्य्य ऐसे भी हैं–जो धर्म्म से इतर प्रयोजनों के लिए जेल जाने में अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं। क्या भारत को आज ऐसे ही धर्म्माचार्य्यों की आवश्यकता है? मेरे इन कटु-शब्दों से सम्भव है–आचार्य्य लोग अप्रसन्न हों–परन्तु इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं। चिन्ता है तो यही कि कहीं धर्म्म की नैय्या सदा के लिए ही पाश्चात्य-शिक्षा-समुद्र में विलीन न हो जाए। भारत का एक ब्राह्मण-बालक आज उन आचार्य्य-प्रवरों से नतमस्तक हो कर करुणा भरी पुकार करता है– हे पूज्य आचार्य्यो! हे पूज्य विद्वानो! हे भारत के ब्राह्मणो! यदि आपको अपने धर्म्म से प्रेम है–यदि आप भारत का अभ्युत्थान चाहते हैं–यदि आप '**स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः**' को सच्चा साबित करना चाहते हैं तो आपको तन-मन-धन तीनों को इस धर्म्म-कार्य्य में लगा देना चाहिए। मैं आक्षेप नहीं करता। धर्म्म को सर्वथा न जानने वाले पाश्चात्यशिक्षादीक्षित "लॉर्ड मैकाले के कथनानुसार "नाम के हिन्दुस्तानी वस्तुतः युरोपियन"–अपने को सभ्यता का सुधार का ठेकेदार बतलाने वाला जो नूतन सभ्य समाज है–

उसके जो भारतीय धर्म्म पर आक्षेप हो रहे हैं–दिनदहाड़े मञ्चों पर खड़े हो कर विधवा-विवाह को शास्त्र-सम्मत बतलाया जा रहा है–श्राद्ध को ब्राह्मणों की पेट-पूजा का साधन बतलाया जा रहा है–अवतारवाद पर आक्षेप किए जा रहे हैं–मूर्ति-पूजा को अवैदिक बतलाया जा रहा है। व्यास-पराशर-कण्व-भरद्वाज-गौतम-कपिल-वसिष्ठ-अगस्त्य-विश्वामित्र आदि महर्षियों पर–उनकी कृतियों पर--उनके दिव्यज्ञान पर–गाली-प्रहार किया जा रहा है–अपनी सारी आयु को एक लँगोटी बाँध कर जंगल के घास-फूस खा कर जीवन बिताने वाले, सारी आयु को संसार के उपकार में लगा देने वाले, उन प्रातःस्मरणीय महर्षियों को स्वार्थी बतलाया जा रहा है। पूज्य विद्वानों और आचार्य्यों को देश की उन्नति का इसलिए बाधक बतलाया जा रहा है कि वे धर्म्म का नाम लेते हैं। वास्तव में आज हम केवल नाम ही नाम लेते हैं। यदि नाम के साथ काम भी करते होते तो आज यह बुरा समय उपस्थित नहीं होता। धर्म्म का यह सिद्धान्त है—

**"नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्म्मः सूक्ष्मोऽपि जाजलेः।
कारणाद्धर्ममन्विच्छन् स लोकान्नाप्नुते शुभान्" ॥**

जिस धर्म्म का–**यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः**–यह घण्टाघोष है। उसकी आज यह दशा ! आज भारतीय वैज्ञानिक धर्म्म की, ईसाई धर्म्म के साथ--मुहम्मदीय धर्म्म के साथ--तुलना की जा रही है। आज महर्षियों को पोपों का दर्जा दिया जा रहा है। वस्तुतः देखा जाए तो आज उतनी भी प्रतिष्ठा नहीं है। कटु वाक्यों से अप्रसन्न होने वाले आचार्य्य-प्रवर एवं पूज्य विद्वान् इसका उत्तर देने की कृपा करेंगे। सर्वशिरोमणि वैज्ञानिक भारतीय धर्म्म की यह स्थिति क्यों हो गई ? क्या इसका उत्तर देने की कृपा होगी ? अतएव यदि आप अपने धर्म्म का अभ्युत्थान चाहते हैं–यदि आप **वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः** कहलवाना चाहते हैं–यदि आपको–**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**[1] भगवान् वेद के इस वाक्य से प्रेम है तो संग्राम में कूद पड़िए। जब तक कुमारिलभट्ट की तरह धर्म्म के लिए अपना बलिदान नहीं किया जाएगा–जब

---

१ ऋग्वेद मं० १०।६०।१२

तक हकीकतराय जैसे वीर बालक धर्म्म के लिए अपने प्राणों को न्यौछावर करना न सीखेंगे, तब तक धर्म्म की—राष्ट्र की- उन्नति सर्वथा असंभव है। जिस दिन आप उठ खड़े होंगे--उस दिन आप देखेंगे—आपके शत्रु आपके सामने ही प्रातःकाल के नक्षत्रों की तरह कैसे अस्त होते हैं !

आज हमें रास पर जो आक्षेप होते हैं- उनका समाधान करना है। रास को कपोल-कल्पना बतलाया जाता है—रास को भगवान् श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व पर कलङ्क समझा जाता है। ज्ञान-कर्म्म-भक्ति तीनों में जो भक्ति-काण्ड के अधिकारी हैं—उन्हें तो इसका उत्तर देना ही व्यर्थ है। भक्ति-काण्ड के मनुष्य के लिए ऐसे आक्षेप रद्दी चीज हैं, अतएव उनके विषय में हमें कुछ नहीं कहना। कहना है—वैज्ञानिकों के प्रति। विज्ञान ही को सर्वस्व मानने वाला जो समुदाय है—उसे ही सन्तुष्ट करना है। उसे ही 'रास-रहस्य' बतलाना है। क्या रास निरी कल्पना है, अथवा इसका कुछ रहस्य भी है ? यदि रहस्य है तो वह क्या है ? बस, आज हम इसी रास की वैज्ञानिक-उपपत्ति बतला कर उन आक्षेपकर्त्ताओं को जतला देना चाहते हैं कि आपको स्थाली-पुलाक न्याय से एक रासतत्त्व का रहस्य बतला दिया गया है। आपको विश्वास करना चाहिए कि जितनी भी पौराणिक कथाएँ हैं—उन सब में इसी प्रकार का गहरा विज्ञान भरा हुआ है- जिसे जान लेने पर आक्षेप की कथा तो दूर रही—उसे साक्षात् ईश्वरीय रचना मानना पड़ता है—जैसा कि पाठक महाशय रास-रहस्य में देखेंगे—

"रास-रहस्य"

आकाश में अनन्तानन्त नक्षत्र दिखलाई पड़ते हैं—वे सब पानी के गोले हैं। उनमें थोड़ा हिस्सा मिट्टी का है और बाकी जल ही जल भरा हुआ है। चन्द्रमा भी एक नक्षत्र ही है—इसमें भी पानी भरा हुआ है। इसी पर सूर्य्य-रश्मियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं एवं इसी से चन्द्रमा और नक्षत्र प्रकाशित दिखलाई पड़ते हैं। नक्षत्र चूँकि आपोमय हैं, अतएव पुराणों में नक्षत्रों के लिए **नक्षत्राण्यापः** यह कहा जाता है। पानी को 'उडु' कहते हैं। पानी को 'उडु' कहते हैं—इसमें निम्नलिखित कोश ही प्रमाण है। कोशकार कहते हैं—**उडुपं तु**

प्लवः कोलः पानी से पार ले जाने का जो तृणादि का समूह है-उसे ही 'उडुप' कहते हैं। इस श्लोक का अर्थ करते हुए रामश्रमीकार कहते हैं-उडु नः-जलात्-पाति इति। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि पानी का नाम उडु है। सारे नक्षत्र आपोमय हैं, अतएव इन्हें 'उडु' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। **नक्षत्रमृक्षं भं तारा तारकाप्युडु वा स्त्रियाम्** में नक्षत्रों को 'उडु' भी कहा है। तात्पर्य्य यही है कि सारे नक्षत्र आपोमय हैं। जैसे पृथिवीपिण्ड की रचना में बारह आना मिट्टी है और चार आना जल है-ठीक इसके विपरीत आकाश में जितने भी नक्षत्र दिखलाई पड़ रहे हैं-उनमें १२ (बारह) आना पानी है एवं ४ (चार) आने मिट्टी है। ये नक्षत्र यद्यपि दीखते हैं, परन्तु वस्तुतः हैं ये बड़ी दूर। सूर्य्य का जो सोलर सिस्टम है-बृहत् साम है-नक्षत्र उससे भी बाहर हैं। नक्षत्र रोदसी त्रिलोकी के बाहर की वस्तु हैं। वहाँ पर भी ये एक ही धरातल पर हों-यह बात नहीं है। वहाँ भी उनकी स्थिति में तारतम्य है। कोई नीचा है-कोई ऊँचा है। इस प्रकार नक्षत्र यद्यपि सूर्य्य से भी बहुत ही दूर हैं-अतएव ये नहीं दीखने चाहिए थे-परन्तु सूर्य्यज्योति से आकृष्ट हो कर-ये चन्द्रमा और पृथिवी के समीप दिखलाई देने लगते हैं। हम आकाश की ओर झाँकते हैं तो नक्षत्र चन्द्रमा के पास ही प्रतीत होते हैं। वस्तुतः जहाँ पर नक्षत्र दीख रहा है-उस स्थान पर असली नक्षत्र सर्व नहीं हैं। हम जिन नक्षत्रों को देख रहे हैं-वे उन नक्षत्रों के प्राणमात्र हैं। जैसे चन्द्रमा सौर-रश्मि से आकृष्ट हो जाता है-तथैव नक्षत्र भी सूर्य्य के प्रकाश से प्रकाशित हो जाते हैं एवं सूर्य्य द्वारा आकृष्ट जो ज्योतिष्मान् नक्षत्र-प्राण हैं-वे ही इस चन्द्रमा के पास दिखलाई देते हैं। हम जिन्हें देखते हैं-ये असली नक्षत्र नहीं हैं ये तो उन नक्षत्रों के प्राणमात्र हैं!

प्रकाशी पदार्थ स्वज्योति-परज्योति भेदेन दो प्रकार के होते हैं। जो अपने प्रकाश से प्रकाशित रहते हैं-वे स्वज्योति कहलाते हैं-जैसे सूर्य्य एवं जो दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित रहते हैं-वे परज्योति पदार्थ कहलाते हैं-जैसे चन्द्रमा। चन्द्रमा में जो चन्द्रिका दिखलाई पड़ती है-वह चन्द्रमा की वस्तु नहीं है अपितु, सूर्य्य की है। एवमेव हम जो नक्षत्र देखते हैं-उनमें भी ये ही दो विभाग हैं। कितने ही नक्षत्र तो स्वज्योति हैं, उदाहरणार्थ-स्वाती, चित्रा,

लुब्धक इत्यादि एवं कितने ही नक्षत्र परज्योति हैं। जो स्वज्योति नक्षत्र हैं–उनमें सूर्य्य से भी अधिक प्रकाश है–परन्तु चूँकि वे बहुत दूर हैं, अतएव उनका प्रकाश हमारे पास बहुत थोड़ा आता है। मृगशीर्ष नक्षत्र से पूर्व अग्निकोण की ओर झुका हुआ 'लुब्धक' नाम का चमाचम करता हुआ एक शिकारी तारा है। उसमें इतनी गर्म्मी है कि यदि सूर्य्य उसके पास चला जाए तो सूर्य्य एक सैकण्ड में भाप बन कर उड़ जाए। सूर्य्य की गर्म्मी से जो वस्तु २४ घण्टे में पिघलती है लुब्धक की गर्म्मी से वह वस्तु एक सैकण्ड में पिघल जाती है। ऐसे-ऐसे कितने ही स्वज्योति नक्षत्र भी हैं एवं जो बिल्कुल टिमटिमाते से धुन्धले से दिखलाई पड़ते हैं–उनके लिए परज्योति नक्षत्रों की अपेक्षा से ही **'नक्षत्राण्यापः'** यह कहा जाता है। यद्यपि आकाश में लुब्धकादि स्वज्योति नक्षत्र भी हैं, परन्तु वे बहुत थोड़े हैं एवं परज्योति नक्षत्र बहुत हैं–अतएव इस न्याय से सारे नक्षत्रों को पानी का गोला बतला दिया जाता है। जहाँ जिनकी संख्या अधिक होती है–वहाँ उन्हीं के नाम से व्यवहार होने लगता है, यही **छत्रिणो यान्ति** का तात्पर्य्य है। जिस प्रकार चन्द्रमा के ऊपर सूर्य्य-रश्मियाँ आक्रान्त हो कर चन्द्रमा को प्रकाशित कर देती हैं एवमेव इन परज्योति नक्षत्रों पर भी सूर्य्य की रश्मियाँ पड़ती हैं एवं उन्हें प्रकाशित कर देती हैं। सूर्य्य की रश्मियों में आकर्षण है–वे उस नक्षत्र-प्रकाश को चन्द्रमा के पास खींच लाती हैं, अतएव हमें नक्षत्र चन्द्रमा के पास ही दिखलाई देने लगते हैं। वस्तुतः हम नक्षत्रों को नहीं देखते अपितु, सूर्य्य-रश्मि द्वारा आकृष्ट नक्षत्र प्राणों को ही देखते हैं। सूर्य्य की आकर्षण शक्ति के कारण सूर्य्य के सोलर सिस्टम से–रोदसीत्रिलोकी से बहुत दूर रहने वाले भी नक्षत्र क्रम-क्रमशः रोदसी-पृथिवी-चन्द्रमा तक आ जाते हैं। वह नक्षत्र-प्राण पृथिवी में भी आ जाता है। बस, सूर्य्य-प्रकाशाकृष्ट जो नक्षत्र-प्राण हैं–उसी के साथ चन्द्रमा का भोग होता है। इस नक्षत्रमण्डल के भोग का नाम ही रास है। आकाश में जितने भी नक्षत्र हैं–उन सब को २७ (सत्ताईस) टुकड़ों मे बाँट दिया है। शुक्ल पक्ष की द्वितीया को छत पर खड़े हो जाइए और चन्द्रकला पर दृष्टि डालिए। जिस स्थान पर चन्द्रमा है–उससे ठीक नीचे बिल्कुल सीध में किसी मकान को अथवा वृक्ष को अथवा और किसी वस्तु-विशेष को निशाना बना ला जिए, दृष्टि में जमा लीजिए। आज चन्द्रमा इस वृक्ष की अथवा इस मकान

की सीध में है। निशान बना कर नीचे आ जाइए। फिर दूसरे दिन छत पर जाइए। उस दिन चन्द्रमा आपको अपने किए हुए कल्पित निशान से पूर्व की ओर हटा हुआ मिलेगा। बस, उतनी दूर का जो स्थान है–वही एक नक्षत्र कहलाता है। इतनी दूर की यदि नाप पूछना चाहो तो वह ८०० (आठ सौ) विकला है अर्थात् १३ (तेरह) अंश २० (बीस) कला है। बस, १३ अंश २० कला का जो आकाश का टुकड़ा है–वही एक नक्षत्र है। इतनी दूर में जो अधिक चमकने वाला तारा होता है–उसी के नाम से उस नक्षत्र को प्रसिद्ध कर दिया जाता है। इस नक्षत्र के अर्थात् १३ अंश २० कला के ४ टुकड़े कर दिए जाते हैं–ये ही एक नक्षत्र के चार चरण होते हैं। ये नक्षत्र सर्वथा स्थिर हैं–ये कभी विचलित नहीं होते, अतएव **न क्षरति स्वस्थानात्-न चलति** इस व्युत्पत्ति से इन्हें 'नक्षत्र' कहा जाता है। अपिच–ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसकी और उपपत्ति बतलाई जाती है। क्षत्र कहते हैं प्रकाश को। रात्रि में ये सारे नक्षत्र क्षत्र सहित रहते हैं अर्थात् चमकते रहते हैं, परन्तु दिन निकलते ही सूर्य्य इनके क्षत्र को अर्थात् प्रकाश को छीन लेता है। इन्हें न-क्षत्र कर देता है, अतएव इन्हें 'नक्षत्र' कहा जाता है। अपिच चूंकि सूर्य्य ही इन्हें नक्षत्र करता है--प्रकाश रहित करता है–अतएव **नक्षत्राणि क्रियन्ते येन** इस व्युत्पत्ति से सूर्य्य को भी 'नक्षत्र' कहने लग गए हैं। इसी अभिप्राय से शतपथ श्रुति कहती है—

"नाना ह वाऽएतान्यग्रे क्षत्राण्यासुः। यथैवासौ सूर्य्य एवं तेषामेष उद्यन्नेव वीर्य्यं क्षत्रमादत्त तस्मादादित्यो नाम-यदेषां वीर्य्यं क्षत्रमादत्त। ते ह देवा ऊचुः। यानि वै तानि क्षत्राण्यभूवन्-न वै तानि क्षत्राण्यभूवन्निति। तद्वै नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्" ॥[1]

ये नक्षत्र १३ अंश २० कला के हिसाब से सारे खगोल में कुल २७ (सत्ताईस) हो जाते हैं। यद्यपि अभिजित् नाम का एक अट्ठाईसवाँ नक्षत्र और माना जाता है, परन्तु वह सन्धि-स्थान में पड़ता है, अतएव उसकी गणना नहीं की जाती। उत्तराषाढ़ नक्षत्र का चौथा चरण और श्रवण नक्षत्र का पहला चरण–इन दोनों को मिला कर एक अभिजित् नक्षत्र माना जाता

---

१ शत० ब्रा० २।१।२।१८–१९।

है। यह अषाढ़ा के तो ऊपर है एवं श्रवण से नीचे है अर्थात् पूर्व की ओर अषाढ़ा है–पश्चिम में श्रवण है–दोनों के बीच में अभिजित् है। अतएव श्रुति कहती है—

"अभिजिन्नाम नक्षत्रमुपरिष्टादषाढानाम्। अवस्ताच्छ्रोणायै (याः) इति" ॥[1]

चूँकि यह उत्तराषाढ़ और श्रवण की सन्धि में आ जाता है, अतएव इसे अलग नहीं माना जाता, अतएव नक्षत्र कुल २७ (सत्ताईस) ही माने जाते हैं। सारा खगोल २७ (सत्ताईस) खण्डों में विभक्त है। इन २७ सों (सत्ताइसों) खण्डों में जो प्रधान नक्षत्र है, उसी के नाम से यह नक्षत्र प्रसिद्ध है। यही अश्विनी-भरणी आदि नाम से प्रसिद्ध है। इन्हीं २७ (सत्ताईस) नक्षत्रों में मेषवृषादि १२ (बारह) राशियाँ बँटी हुई हैं। अश्विनी नक्षत्र से यह राशि-विभाग प्रारम्भ होता है। अश्विनी से रेवती तक मेषादि १२ (बारह) राशियाँ बँटी हुई हैं। जैसे १३ अंश २० कला के प्रदेश को एक नक्षत्र कहते हैं--तथैव ३० अंश के प्रदेश को एक राशि कहते हैं। अश्विनी से ३०-३० अंश का हिसाब लगाते जाइए–३६० अंश वाले खगोल में ३०-३० के हिसाब से १२ टुकड़े हो जाते हैं। ये ही १२ (बारह) राशियाँ कहलाती हैं। इन तीस-तीस अंशों के प्रदेश में जितने नक्षत्र हैं--उन सब की भिन्न-भिन्न आकृतियाँ हैं। इन तीस-तीस अंशों के प्रदेश में जो नक्षत्र हैं, वे कोई तो भेड़ के आकार के हैं, कोई बैल के आकार के हैं। कोई केकड़े के आकार के हैं। कोई बिच्छू के आकार के हैं। १२ हों (बारहों) प्रदेशों के भिन्न-भिन्न आकार हैं। बस, उन आकारों के अनुसार ही उन १२ (बारह) प्रदेशों के मेष-वृष-मिथुन-कर्क-सिंह-कन्या-तुला-वृश्चिक-धन-मकर-कुम्भ-मीन ये नाम रख दिए हैं। ये नाम ३०-३० अंशों के समूह के हैं। समूह को चूँकि 'राशि' (ढेर) कहा जाता है, अतएव मेषादि को 'राशि' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। नक्षत्र १३ अंश २० कला का होता है। राशि तीस अंश की होती है। इस प्रकार एक राशि में करीब सवा दो नक्षत्र आ जाते हैं। चन्द्रमा नक्षत्र का भोग एक

---

१ तै०ब्रा० १।५।२।३।

दिन में करता है एवं राशि का भोग सवा दो दिन में करता है। इस प्रकार १२ (बारह) राशियों का और २७ (सत्ताईस) नक्षत्रों का करीब-करीब पौने २८ (अट्ठाईस) दिन में चन्द्रमा राशि और नक्षत्र की परिक्रमा लगा लेते हैं। हमने बतलाया था कि प्रत्येक नक्षत्र के चार चरण माने जाते हैं। इस प्रकार २७ (सत्ताईस) नक्षत्रों के १०८ (एक सौ आठ) चरण हो जाते हैं। प्रत्येक चरण तीन अंश बीस कला का है। इसी अभिप्राय से नक्षत्र को याद करवाने के लिए आधुनिक ज्योतिष पाठचक्रम में ३-२०।-६।४०।१०।१३।२० यह सिखलाया जाता है। ३-२० पहला चरण है। इसमें जब दूसरे चरण के ३-२० शामिल हो जाते हैं, तो ६ अंश ४० कला हो जाती हैं। इसमें जब तीसरे चरण की ३ अंश २० कला और शामिल कर दी जाती है तो पूरे १० (दस) अंश हो जाते हैं एवं इसमें जब चौथे चरण की तीन अंश २० कला और मिला दी जाती है तो पूरे १३ अंश २० कला हो जाती हैं। कहना यही है कि नक्षत्र २७ (सत्ताईस) हैं एवं प्रत्येक नक्षत्र १३ अंश २० कला का है एवं प्रत्येक नक्षत्र में चार-चार चरण हैं--इस प्रकार कुल १०८ चरण हो जाते हैं। प्रत्येक चरण ३ अंश २० कला का है। इन २७ (सत्ताईस) नक्षत्रों में अश्विनी के प्रथम चरण से प्रारम्भ कर रेवती के चौथे चरण तक मेषादि १२ (बारह) राशियाँ बँटी हुई हैं। प्रत्येक राशि ३०-३० अंश की है। इस प्रकार सवा दो नक्षत्रों में एक राशि समाप्त हो जाती है। प्रसङ्गानुगत इतना और समझ लेना चाहिए कि ९ (नौ) नक्षत्रों पर जा कर एक विद्युत् समाप्त होती है। अश्विनी से नक्षत्र-गणना प्रारम्भ होती है--यहीं से राशि चलती है। इस राशि और नक्षत्र विद्युत् की समाप्ति ९ वें नक्षत्र पर जा कर समाप्त होती है। ९ (नौ) नक्षत्र एक दूसरे से मिले हुए हैं। ९ (नौ) की विद्युत् एक है, अतएव सारे आकाश को ९-९ नक्षत्रों के हिसाब से ३ (तीन) खण्डों में बाँट लिया जाता है। तीनों की विद्युत् अलग-अलग हैं। ये ही तीनों तीन नाडी कहलाती हैं। अश्विनी से ले कर अश्लेषा तक एक नाडी है--इसे 'आदि-नाडी' कहते हैं। मघा से ज्येष्ठा तक दूसरी नाडी है--इसका नाम 'मध्य-नाडी' है एवं मूल से रेवत्यन्त तीसरी नाडी है--इसे 'अन्त्य-नाडी' कहते हैं। इन तीनों नाडियों में जो सन्धि-स्थान पड़ते हैं--वहाँ पर उस समय यदि किसी का जन्म होता है तो वह उसी समय मर जाता है, क्यों कि दोनों ओर

की नक्षत्र विद्युत् टूटी हुई है। पूर्व के ९ वें (नवें) नक्षत्र की विद्युत् का आगे के १०वें (दसवें) नक्षत्र की विद्युत् से कोई सम्बन्ध नहीं है अतएव अन्तराय में आकाश के खण्डान्त योग में पैदा होने वाला बच्चा उसी समय मर जाता है। इसी खण्डान्त योग को 'गण्डान्त' योग कहा जाता है। वस्तुतः इसका नाम खण्डान्त योग है न कि गण्डान्त। नाडी-क्रम समझने के लिए नीचे नक्षत्रों को बतला दिया जाता है। इस राशि-क्रम को समझने के लिए नीचे लिखे क्रम को देखने से सुभीता होगा—

१ पहला खण्ड

आदिनाडी	१-अश्विनी, २-भरणी, कृत्तिकापादमेकं–मेष।	(कुल ९ चरण) सवा दो नक्षत्र।
	कृत्तिकापादत्रयं, रोहिणी, मृगशिरार्द्धे–वृष।	(कुल ९ चरण) सवा दो नक्षत्र।
	मृगशिरार्द्धे, आर्द्रा, पुनर्वसुपादत्रयं–मिथुन।	,,
	पुनर्वसुपादमेकं, पुष्य-अश्लेषान्ते च–कर्क।	,,

२ दूसरा खण्ड

मध्य नाडी	मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तरफा०पादमेकं–सिंह।	(९ चरण) सवा दो नक्षत्र
	उत्तर फा० पादत्रयं, हस्त, चित्रार्द्धे–कन्या।	,,
	चित्रार्द्धे, स्वाती, विशाखापादत्रयं–तुला।	,,
	विशाखापादमेकं, अनुराधा, ज्येष्ठान्तेच–वृश्चिक।	,,

३ तीसरा खण्ड

अन्त्यनाडी	मूल, पूर्वाषाढ, उत्तराषाढपादमेकं–धन।	(९ चरण) सवा दो नक्षत्र
	उत्तराषाढपादत्रयं, श्रवण, धनिष्ठार्द्धे–मकर।	(,,)
	धनिष्ठार्द्धे, शतभिषा, पूर्वाभाद्र०पादत्रयं–कुम्भ।	(,,)
	पूर्वाभाद्रपदपादमेकं, उत्तराभाद्रपद, रेवत्यन्ते–मीन।	(,,)

इस प्रकार १२ (बारह) राशियों में २७ (सत्ताईस) नक्षत्र पूर्व प्रदर्शित क्रमानुसार बँटे हुए हैं। चन्द्रमा इन्हीं नक्षत्रों का और राशियों का तीन प्रकार से भोग करता है। आदिनाडी–मध्यनाडी–अन्त्यनाडी भेदेन नाडी-त्रय में विभक्त जो नक्षत्ररथ है–उसी पर चन्द्रमा सवार रहते हैं। जैसे सूर्य

के रथ में क्रान्तिवृत्तस्वरूप एक पहिया है तथैव चन्द्रमा के रथ में नाडी रूप तीन पहिये हैं। जिस रथ पर चन्द्रमा सवार हो कर नक्षत्रमण्डल की परिक्रमा करता है–रास करता है–उस रथ का स्वरूप बतला देना अनुचित न होगा।

सूर्य्य प्रतिदिन एक अंश चलता है, इस प्रकार तीस दिन में तीस अंश चल कर एक राशि का भोग कर लेता है। सूर्य्य चलता है–यह बात हमने दृश्यमण्डल के अभिप्राय से कही है। वास्तव में प्रकृतिमण्डल के अनुसार सूर्य्य सर्वथा स्थिर है एवं पृथिवी चल है।[1] इसका विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना है।

प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि दृश्यमण्डल के हिसाब से सूर्य्य प्रतिदिन एक अंश चलता है। इस प्रकार सावन वर्ष के अनुसार सूर्य्य ३६० दिन में अपने क्रान्तिवृत्त की परिक्रमा लगा लेता है। उत्तर ध्रुव से ९० अंश दक्षिण एवं दक्षिण ध्रुव से ९० अंश उत्तर जो-जो एक कल्पित पूर्वापरवृत्त है–उसे 'विषुवद्वृत्त' कहते हैं। इसी को 'नाडीवृत्त' कहा जाता है। यही पाश्चात्य-विज्ञान-जगत् में 'इक्वेटर' नाम से प्रसिद्ध है। इस विषुवत् से २४ अंश उत्तर और २४ अंश दक्षिण–इतनी दूर का–४८ अंश का जो एक दृश्यमण्डल के अनुसार अण्डाकार प्रकृति के अनुसार वर्त्तुलवृत्त है–वही 'क्रान्तिवृत्त' कहलाता है। इस क्रान्तिवृत्त की उत्तर परम क्रान्ति २४वें अंश तक है। इसी प्रकार दक्षिण परमक्रान्ति भी 'इक्वेटर' से २४वें (चौबीसवें) अंश तक ही है। विषुवत् से उत्तर का भाग–उत्तरगोल (नार्दर्न-पोर्शन) कहलाता है एवं दक्षिणभाग दक्षिण गोल (सदर्न पोर्शन) कहलाता है। दक्षिणगोलस्थित सूर्य्य जब दक्षिण की परमक्रान्ति पर पहुँच कर उत्तर दिशा की ओर मुख कर लेता है–यही 'उत्तरायण-काल' कहलाता है। एवमेव उत्तरगोलस्थित सूर्य्य उत्तर की परम क्रान्ति पर पहुँच कर वहाँ से दक्षिण की ओर रुख कर लेता है तो यह उसका 'दक्षिणायन काल' कहलाता है। कहने

---

१ पृथिवी चल है, अथवा स्थिर, पृथिवी पहले पैदा हुई या सूर्य्य इत्यादि बातों का विस्तृत विवेचन देखने के लिए स्व० पं० मोतीलाल जी शास्त्री कृत 'अहोरात्रवाद' हिन्दी भाष्य देखना चाहिए।

का तात्पर्य्य यही है कि उत्तरायण दक्षिण गोल में होता है एवं दक्षिणायन उत्तरगोल में होता है। बस, ४८ अंश के परिसर के बीच में ही सारे ग्रह रहते हैं। चन्द्रमा को छोड़ कर सारे ग्रह इस क्रान्तिवृत्त के परिसर को छोड़-कर कभी बाहर नहीं जाते। चन्द्रमा २८वें (अट्ठाईसवें) अंश तक चला जाता है। वह परम क्रान्ति से चार अंश आगे निकल जाता है। स्वाती नक्षत्र विषुवत् से ३० अंश उत्तर में है। चन्द्रमा २८ (अट्ठाईस) तक ही जाता है-अतएव चन्द्रमा का स्वाती नक्षत्र के साथ कभी योग नहीं बनता। परन्तु शास्त्रों में चन्द्रमा का स्वाती नक्षत्र के साथ योग बतलाया जाता है। चन्द्रमा जब स्वाती के पास आता है तो उस योग को 'स्वाती' योग कहा जाता है। परन्तु यह बात सर्वथा अनुपपन्न है-जब कि स्वाती नक्षत्र चन्द्रमा से दो अंश उत्तर आगे निकला हुआ है। इस विप्रतिपत्ति को हटाने के लिए कहा जाता है—

"सममुत्तरेण ताराचित्रायाः कीर्त्यते ह्यपांवासः ।
तस्यासन्ने चन्द्रे स्वातेर्योगः शिवो भवति ।।"

चित्रा से ठीक उत्तर स्वाती की सीध में एक अपांवास नाम का तारा है। इस तारे पर जब चन्द्रमा आ जाता है तो 'स्वातीयोग' मान लिया जाता है-यही श्लोक का तात्पर्य है। बतलाना हमें यही है कि जिस क्रान्तिवृत्त पर सूर्य्य घूमता है-वही सूर्य्य के रथ का पहिया है। ४८ अंश का जो परिसर है-वह रथ है एवं इस रथ का क्रान्तिवृत्त नाम का एक पहिया है। इस क्रान्ति-वृत्त वाले एक पहिये के रथ में सात घोड़े जुते रहते हैं। विषुवद् वृत्त से उत्तर तीन अहोरात्रवृत्त और होते हैं। इसी प्रकार तीन ही 'अहोरात्रवृत्त' दक्षिण में होते हैं। एक स्वयं नाडीवृत्त है। इस प्रकार कुल सात अहोरात्रवृत्त हो जाते हैं। ज्योतिष में इन्हें 'पूर्वापरवृत्त' कहा जाता है एवं वेद में इन्हें 'छन्द' कहा जाता है। ये सातों छन्द-गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् जगती-इन नामों से प्रसिद्ध हैं। गायत्री छन्द सबसे दक्षिण में है-एवं जगती छन्द सबसे उत्तर में है। इसी गायत्री छन्द को ज्योतिषशास्त्र 'मकर-वृत्त" नाम से व्यवहृत करता है क्यों कि राशिक्रम में इस स्थान पर 'मकर-राशि' ही पड़ती है एवं जगती छन्द को 'कर्कवृत्त' कहा जाता है। ये ही

दोनों–'कैप्रीकार्न और कैंसर' नाम से व्यवहृत होते हैं। इन सातों 'पूर्वापरवृत्तों' को जो कि क्रान्तिवृत्त को काटते हुए बनते हैं–'लेटीच्यूड' कहा जाता है। याम्योत्तरवृत्त को (ध्रुवप्रोतवृत्त को–मध्याह्न को) 'लाङिच्यूड्' कहा जाता है। कहना यही है कि ये सात छन्द ही सूर्य्य के रथ के सात घोड़े बतलाए जाते हैं। सूर्य्य अग्निमय है। अग्नि का वर्ण हिरण्मय है अर्थात् सोने जैसा है। चूँकि ४८ अंश के परिसर में–सूर्य्य का हिरण्मय प्रकाश व्याप्त रहता है, अतएव सूर्य्य के रथ को सुनहरी बतलाया जाता है। बस, इसी सूर्य्य-विज्ञान को बतलाने के लिए पुराणों में कहा जाता है कि "सूर्य्य के सात घोड़े हैं। उनका रथ सोने का है एवं उसके एक ही पहिया है" इसकी यही वैज्ञानिक उपपत्ति है। पुराण ही ऐसी आलंकारिक कल्पना नहीं करता अपितु, वेद भी ऐसी ही कल्पना करता है। वेद भगवान् कहते हैं—

"सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः" ।।[1]

अपिच–**"इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।**
सप्त स्वसारो अभिसंनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम" ।।[2]

अपिच–**"आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।**
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्" ।।[3]

बस, यही सूर्य्य के रथ का स्वरूप है। यह तो हुआ सूर्य्यरथ-स्वरूप-विवेचन। इस ४८ अंश के मार्ग में चन्द्रमा के लिहाज से तीन मार्गों की कल्पना की जाती है। वे तीनों मार्ग १६-१६ अंशों में विभक्त हैं। वे तीनों मार्ग १–ऐरावत–मार्ग २ जरद्गव–मार्ग ३-एवं वैश्वानर–मार्ग–इन नामों से प्रसिद्ध हैं। उत्तर मार्ग–'ऐरावत मार्ग' कहलाता है। मध्यम-मार्ग 'जरद्गव-मार्ग' कहलाता है एवं दक्षिण मार्ग 'वैश्वानर-मार्ग' कहलाता है। यह मार्ग-कल्पना भी कोरी कल्पना ही नहीं–इसमें भी बड़ा भारी रहस्य है।

---

१ ऋग्वेद १।१६४।२। २ ऋग्वेद १।१६४।३।
३ यजुर्वेद ३३।४३, ३४-३१।

हम 'विषुवत्' से उत्तर में रहते हैं, अतः दृश्य-मण्डल के हिसाब से 'दक्षिण-मार्ग' सबसे छोटा पड़ता है। यही कारण है कि जब सूर्य्य दक्षिण की परम क्रान्ति पर पहुँच जाता है तो दिन सबसे छोटा होता है एवं जब सूर्य्य वहाँ से उत्तराभिमुख होता है तो दिन उत्तरोत्तर बड़ा होने लगता है। होते-होते उत्तर की परम क्रान्ति पर आ जाने से दिन सबसे बड़ा होता है। हाथी से छोटा बैल है। बैल से छोटा बकरा है। चूँकि दक्षिणमार्ग से मध्यममार्ग बड़ा है, मध्यम से उत्तर मार्ग बड़ा है, अतः इस छोटे-बड़े के रहस्य को समझाने के लिए इन तीनों मार्गों के क्रमशः वैश्वानर, जरद्गव एवं ऐरावत-ये तीन नाम रख दिए हैं। वैश्वानर से बकरा अभिप्रेत है क्योंकि बकरा 'आग्नेय-पशु' होता है। वर्ण व्यवस्थानुसार बकरा आग्नेय होने के कारण ब्राह्मण कहलाता है-मेष (भेड़) ऐन्द्र होने के कारण क्षत्रिय कहलाता है, गो-विश्वेदेव सम्बन्ध के कारण वैश्य कहलाता है एवं घोड़ा पूषाप्राण के कारण शूद्र कहलाता है। वैश्वानर अग्नि को कहते हैं एवं बकरा आग्नेय है-इसमें निम्नलिखित श्रुति ही प्रमाण है—

"तद्धैकेऽजमुपबध्नन्ति। आग्नेयोऽजोऽग्नेरेवसर्वत्वायेति वदन्तः"।[1]

इस अज सम्बन्ध से ही इस दक्षिणावीथी को 'अज-वीथी' कहा जाता है। अपिच-दक्षिणमार्गस्थ नक्षत्रसंस्था बकरे के शकल की है, मध्यममार्ग-संस्था बैल की शकल की है एवं उत्तरमार्गस्थ नक्षत्रसंस्था हाथी की शकल की है-जैसा कि आकाश में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। बस, इस संस्था-रहस्य को बतलाने के लिए भी इन तीनों मार्गों के वैश्वानर-जरद्गव और ऐरावत-ये नाम रक्खे गए हैं। इन तीनों मार्गों में (प्रत्येक में) तीन-तीन वीथियाँ (गलियाँ) हैं। इस प्रकार तीनों को मिला कर कुल नौ वीथियाँ हो जाती हैं। उन ९वों वीथियों के वैश्वानर-मार्ग की ओर से प्रारम्भ कर निम्नलिखित नाम हैं-१-अजवीथी, २-मृगवीथी, ३-वैश्वानरवीथी-इति वैश्वानर मार्गः[2] प्रथमः। १-आर्षभीवीथी, २-गोवीथी ३-जरद्गव-वीथी-इति जारद्गव मार्गः[3] द्वितीयः।

---

१ शत०ब्रा० २।१।४।३। २ अन्त्यनाडी। ३ मध्यनाडी।

१-ऐरावतवीथी २-गजवीथी ३-नागवीथी–इत्यैरावतमार्गस्तृतीयः[१] । पूर्वोक्त तीनों मार्गों को ही आदिनाडी-मध्यनाडी-अन्त्यनाडी कहा करते हैं- जैसा कि पूर्व के प्रकरण में बतला दिया गया है । पूर्वोक्त वीथी-विभाग अश्विनी-भरणी आदि नक्षत्रों के हिसाब से हैं । पूर्वोक्त ऐरावतादि तीनों मार्गों में इन २७ (सत्ताईस) नक्षत्रों की सूत्रविभागेन तीन संस्थाएँ हैं, अतएव तीनों मार्गों में ९ (नौ) वीथी हो जाती हैं । अश्विनी, भरणी, कृत्तिका–ये तीन नक्षत्र आकाश के जिस खण्ड में हैं–उस वीथी को 'नाग-वीथी' कहते हैं । रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा–ये नक्षत्र जिस खण्ड में हैं–उसे 'गज-वीथी' कहते हैं एवं पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा ये तीन नक्षत्र जिस खण्ड में हैं–उसका नाम 'ऐरावत-वीथी' है । इन तीनों वीथियों को ही उत्तर मार्ग किंवा 'ऐरावत मार्ग' कहा जाता है ।।१।।

मघा, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी–इन तीनों नक्षत्रों के आकाश-खण्ड को 'आर्षभी वीथी' कहते हैं । हस्त, चित्रा, स्वाती–इनके मार्ग को 'गोवीथी' कहते हैं । विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा–इनके मार्ग को 'जारद्गवी-वीथी' कहते हैं । इन तीनों को ही मध्यममार्ग किंवा 'जारद्गव' मार्ग कहा जाता है ।।२।।

मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़–इनके 'आकाश-खण्ड' को 'अजवीथी' कहते हैं । श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषक्–इनके मार्ग को 'मृग-वीथी' कहते हैं । पूर्वा० भाद्र०, उत्तरा भाद्र०, रेवती–इनके मार्ग को 'वैश्वानर-वीथी' कहते हैं । इन तीनों को ही दक्षिणमार्ग किंवा 'वैश्वानर-मार्ग' कहा जाता है ।।३।।

इसी वीथी और मार्ग-विभाग को बतलाते हुए भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

"सर्वग्रहाणां त्रीण्येव स्थानानि द्विजसत्तम ।
स्थानं "जरद्गवं मध्ये तथैरावतमुत्तमम्" ।।

"वैश्वानरं दक्षिणतो निर्दिष्टमिह तत्त्वतः" ।

---

१ आदिनाडी ।

"अश्विनी, कृत्तिका, याम्या नागवीथीतिशब्दिता ।
रोहिण्यार्द्रा मृगशिरो गजवीथीत्यभिधीयते ॥१॥

"पुष्याऽऽश्लेषा तथाऽऽदित्या वीथी चैरावती स्मृता ।
एतास्तु वीथयस्तिस्त्र उत्तरो मार्ग उच्यते" ॥२॥

"तथा द्वे चाऽऽर्ये फाल्गुन्यौ मघा चैवार्षभी मता ।
हस्तश्चित्रा तथा स्वाती गोवीथीति च शब्दिता" ॥३॥

"ज्येष्ठा विशाखाऽनुराधा वीथी जारद्गवी मता ।
एतास्तु वीथयस्तिस्रो मध्यमो मार्ग उच्यते" ॥४॥

"मूलं पूर्वाषाढोत्तराषाढा साऽजवीथ्यभिशब्दिता ।
श्रवणं च धनिष्ठा च मार्गी शतभिषक् तथा" ॥५॥

"वैश्वानरी भाद्रपदे रेवती चैव कीर्त्तिता ।
एतास्तु वीथयस्तिस्रो दक्षिणो मार्ग उच्यते-इति" ॥६॥[1]

बस, सारे ग्रह और सारे नक्षत्र एवं सारी राशियाँ, ९ (नौ) वीथी वाले इन तीनों मार्गों पर अवलम्बित हैं। हमें प्रकृत में चन्द्रमा के रथ का स्वरूप बतलाना है। जिस प्रकार पृथिवी के सूर्य्यपरिभ्रमणवृत्त को 'क्रान्तिवृत्त' कहा जाता है तथैव चन्द्रपरिभ्रमणवृत्त को 'दक्ष' कहा जाता है। सारे विश्व में 'अग्नि और सोम' ये दो ही तत्त्व हैं। अग्नि भोक्ता है, सोम भोग्य है। भोक्ता और भोग्य को वैदिक परिभाषा में 'अन्नाद और अन्न' कहा जाता है। वास्तव में खाने वाला और खाने की वस्तु-इन दो के अलावा कोई तीसरी वस्तु है ही नहीं। खाने वाला अग्नि है-खाए जाने वाला सोम है। अग्नि उत्तरोत्तर विशकलित होता जाता है। लकड़ी से जब तक अग्नि का स्पर्श न कराया जाएगा, तब तक लकड़ी ठोस रहेगी। जहाँ विशकलनधर्म्मा अग्नि का उसके साथ सम्बन्ध कराया कि अग्नि के सारे अवयव विशकलित हो जाएँगे। काष्ठ की सारी

१ मतभेदो मत्स्यपुराणे-१२४ अ० द्रष्टव्यम्।

दक्षता-घनता-मजबूती नष्ट हो जाएगी । परन्तु सोम ठीक इसके विरुद्ध है । सोम संकोचधर्म्मा है । पदार्थों में जो घनता देखी जाती है, दक्षता देखी जाती है—वह इसी सोम की महिमा है । सोम ही घनता का अधिष्ठाता है—इसी विज्ञान को बतलाने के लिए 'सोमभद्रौ' यह कहा जाता है । इस सोम की घन-तरल-विरल ये तीन अवस्थाएँ हैं । इन्हीं तीनों को वैदिक परिभाषा में ध्रुव (घन), धर्त्र (तरल), धरुण (विरल) इन नामों से व्यवहृत किया जाता है । इस अवस्था-त्रय के तारतम्य से ही पदार्थों की घनता में तारतम्य हुआ करता है । यह सोम अग्नि में आहुत होता रहता है । सूर्य्य अग्नि का गोला है । चन्द्रमा सोम का गोला है । सूर्य्य इस चन्द्रमा को अर्थात् सोम को खाता रहता है, अतएव सूर्य्य को अत्ता कहा जाता है—चन्द्रमा को अन्न कहा जाता है । सूर्य्य में चन्द्रमा की आहुति पड़ती रहती है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"द्वयं वा इदमत्ता चैवाद्यं च । आदित्यो वा अत्ता । तस्य चन्द्रमा एवाहितयः । चन्द्रमसं ह्यादित्य आदधाति"–इति ।।[1]

सौर प्राण का नाम ही देवता है । जैसा कि श्रुति कहती है—

"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः"इति ।[2]

चूंकि यह सौरप्राण ही चान्द्र सोम को खाते हैं । अतएव यह कहा जाता है—

"एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः" ।[3]

बतलाना हमें यही है कि सोम संकोचधर्म्मा है—अग्नि विशकलनधर्म्मा है, अग्नि तेज है—सोम स्नेह है । जिसमें स्नेह की मात्रा अधिक रहती है अर्थात् सोम की मात्रा अधिक होती है--वह अधिक दक्ष होता है । चन्द्रमा सोममय है । सोम दक्षण करता है, अतएव चन्द्र-परिभ्रमणवृत्त को 'दक्ष' कहा जाता है । इसी दक्षवृत्त के भिन्न-भिन्न देवताओं के हिसाब से ६० (साठ) टुकड़े कर

---

१ शत०ब्रा० १०।६।२।१, ३ । २ ऋग्वेद मं० १।११५।१ ।
३ शत० ब्रा० ११।६।४।५ ।

दिए जाते हैं। नक्षत्रों के हिसाब से इस दक्ष-वृत्त के २७ (टुकड़े) होते हैं— जैसा कि पूर्व में बतला दिया गया है। इन (सत्ताईस) के साथ चन्द्रमा का भोग होता है। ये ही चन्द्रमा की २७ (सत्ताईस) स्त्रियाँ कहलाती हैं। सूर्य्य जिसे कि कश्यप कहा जाता है, के हिसाब से इस दक्ष-वृत्त के १३ (तेरह) टुकड़े हो जाते हैं। चान्द्र-संवत्सर के हिसाब से १३ (तेरह) टुकड़े होते हैं एवं सौर-संवत्सर के हिसाब से १२ (बारह) टुकड़े होते हैं। ये ही १३ (तेरह) कश्यपप्रजापति की स्त्रियाँ कहलाती हैं। १२ (बारह) राशियाँ ही कश्यप की १२ (बारह) स्त्रियाँ हैं। अरिष्टनेमि के हिसाब से इस दक्षवृत्त के चार टुकड़े किए जाते हैं। जितने भी वर्त्तुल-वृत्त होते हैं—वे सब चतुर्भुज कहलाते हैं— जिनका कि विस्तृत विवेचन परमेष्ठिविष्णु के चारभुजा निरूपण में कर दिया गया है। प्रत्येक भुज ९०°-९०° अंश का होता है। एक गोलवृत्त सामने रख लीजिए और उसके चार टुकड़े कर डालिए। एक रेखा पूर्वापर खींचिए। एक दक्षिणोत्तर खींचिए—चार टुकड़े हो जाएँगे। ये ही चार भुजाएँ कहलाती हैं। दक्षवृत्त को भी इस प्रकार से चार हिस्सों में बाँट रखा है। चारों अरिष्टनेमि कहलाते हैं। नेमि नाम अन्तिम छोर का है। दक्ष वृत्त को चार टुकड़ों में बाँटने के लिए चार नक्षत्र मान लिए गए हैं। इन चार के हिसाब से ऋक्ष के चार टुकड़े हो जाते हैं। इसी हिसाब से बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु"॥[1]

आकाश में एक चित्रा नक्षत्र है। चित्रा के स्वामी इन्द्र हैं। चित्रा के ऊपर जो तारे हैं—उनकी शक्ल कान के जैसी है—अतएव उन्हें 'वृद्धश्रवाः' (बड़े कान वाला) कहा जाता है। इससे ठीक १८० अंश पर रेवती का तारा है एवं श्रवण-नक्षत्र के ऊपर एक विष्णु नक्षत्र है—यह गरुड़ पर सवार है। यहाँ से १८० अंश पर लुब्धकबन्धु नाम का बृहस्पति-नक्षत्र है। बस, ये ही चार स्वस्तिक कहलाते हैं। ये ही चार अरिष्टनेमि की स्त्रियाँ हैं एवं धर्म के हिसाब से इसी दक्ष-वृत्त के दस टुकड़े हो जाते हैं। पुराणों में लिखा रहता

१ ऋग्वेद मं० १।८९।६।

है–दक्षप्रजाप्रति की ६० (साठ) लड़कियाँ थीं। उनमें २७ (सत्ताईस) चन्द्रमा को दीं–१३ (तिरह) कश्यप को दीं–४ (चार) अरिष्टनेमि को दीं–१० (दस) धर्म्म को दीं। इस पौराणिक–कथा का यही रहस्य है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

"दक्षस्तु षष्टिकन्यास्तु सप्तविंशतिमिन्दवे।
ददौ स दश धर्म्माय कश्यपाय त्रयोदश ॥१॥

द्वे चैवाङ्गिरसे प्रादाद् द्वे कृशाश्वाय धीमते।
द्वे चैव भृगुपुत्राय चतस्रोऽरिष्टनेमिने" ॥२॥[1]

जिस समय आकाशस्थ दक्षवृत्त के ६० (साठ) विभाग किए गए थे–उस समय रोहिणी नक्षत्र पर वसन्त–संपात था। वहीं से नक्षत्र–गणना प्रारम्भ होती थी। अतएव चन्द्रमा की प्रधान स्त्री रोहिणी को ही बतलाया जाता है। "चन्द्रमाकार' स्त्रियों में से सबसे बड़ी पटरानी 'रोहिणी' के साथ ही अधिक द्वेष था" इसकी यही उपपत्ति है। जिस दक्ष-वृत्त पर चन्द्रमा परिक्रमा लगाता है–उसमें तीन नाडियाँ हैं। जिनका स्वरूप पूर्व विवरण में बतला दिया गया है। दक्षवृत्त पूर्वोक्त तीनों नाडियों पर अवलम्बित है। दक्षवृत्त ही रथ है। तीन नाडियाँ ही–रथ के तीन पहिए हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर चन्द्ररथस्वरूप बतलाते हुए भगवान् व्यास कहते हैं—

"वीथ्याश्रयाणि चरति नक्षत्राणि निशाकरः।
त्रिचक्रोभयतोऽश्वश्च विज्ञेयस्तस्य वै रथः"[1] ॥१॥

"शतारैश्च त्रिभिश्चक्रैर्युक्तः शुक्लैर्हयोत्तमैः।
दशभिस्त्वकृशैर्दिव्यैरसंगऽस्तैर्मनोजवैः" ॥२॥

"रथेनानेन देवैश्च पितृभिश्चैव गच्छति।
सोमो ह्यम्बुमयैर्गोभिः शुक्लैः शुक्लगभस्तिमान्" ॥३॥

"क्रमते शुक्लपक्षादौ भास्करात् परमास्थितः।
देवैः पीतं क्षये सोममाप्याययति नित्यशः" ॥४॥

---

१ पं० मधुसूदन ओझा कृत 'अहोरात्रवाद' पृ.सं. ३८, संस्करण–१९२९ ई.।

"पीतं पञ्चदशाहं तु रश्मिनैकेन भास्करः ।
आपूरयन् सुषुम्णेन भागं भागमनुक्रमात्" ॥५॥
"इत्येषा सूर्य्यवीर्य्येण चन्द्रस्याप्यायिता तनुः ।
स पौर्णमास्यां दृश्येत शुक्लः सम्पूर्णमण्डलः ॥६॥इति ।[1]

बस, इसी रथ पर सवार हो कर चन्द्रमा नक्षत्रमण्डल का भोग किया करता है ।

वीथी-परिलेख[2]

नाडी	नक्षत्र	वीथी	मार्ग
आदिनाडी	अश्विनी——भरणी——कृत्तिका	नागवीथी	इत्यैरावतमार्गः
	आर्द्रा——मृगशिरा——रोहिणी	गजवीथी	
	पुनर्वसु——पुष्य——अश्लेषा	ऐरावतीवीथी=	
मध्यनाडी	उ०फा०——पू०फा०——मघा	आर्षभीवीथी	इतिजारद्गवमार्गः
	हस्त——चित्रा——स्वाती	गोवीथी	
	ज्येष्ठा——अनुराधा——विशाखा	जारद्गवी-वीथी	
अन्त्यनाडी	मूल——पू०आ०——उ०आ०	अजवीथी	इतिवैश्वानरमार्गः
	शतभिषक्——धनिष्ठा——श्रवणा	मृगवीथी	
	पू०भा०——उत्तरभा०——रेवती	वैश्वानरीवीथी	

॥ इति चन्द्ररथस्वरूप निदर्शनम् ॥

---

१ लिङ्ग पुराण अध्याय ५६–सोम के रथ का निरूपण ।
२ मतभेदो मत्स्यपुराणे द्रष्टव्यम्–१२४ अ० ।

हमने बतलाया था कि आकाश के ९-९ नक्षत्रों के हिसाब से तीन खण्ड कर दिए जाते हैं। प्रत्येक खण्ड में चन्द्रमा भिन्न-भिन्न रहता है। स्थान-भेद से, नक्षत्र-भेद से एवं राशि-भेद से प्रत्येक खण्ड की विद्युत् भिन्न-भिन्न प्रकार की हो जाती है। अश्विनी से अश्लेषा तक जो पहला खण्ड है—उसमें चन्द्रमा की विद्युत् दूसरे ही प्रकार की रहती है। मध्य-खण्ड में दूसरे प्रकार की रहती है एवं अन्तिम तृतीय खण्ड में तीसरे ही प्रकार की रहती है। तीनों में तीन तरह का चन्द्रमा हो जाता है। इन खण्डों की परिक्रमा करीब २८ (पौने अट्ठाईस) दिन में हो जाती है। पृथ्वी को केन्द्र में रख कर चन्द्रमा २८ (पौने अट्ठाईस) दिन में सारे दक्षवृत्त की—आकाश के तीनों खण्डों की—परिक्रमा लगा आता है। इस प्रकार से २७ (सत्ताईस) दिन में इसकी एक परिक्रमा हो जाती है। ऐसे-ऐसे—१२ महिने का अर्थात् ३३३ दिन का 'चान्द्रसंवत्सर' होता है। चन्द्र सूर्य्य-सत्ता दिन में रहती है; अतएव 'ऐन्द्रमहः' यह कहा जाता है एवं चन्द्रसत्ता (सोमसत्ता) रात्रि में रहती है—अतएव 'सौम्यारात्रिः' यह कहा जाता है। चन्द्रमा २७ (सत्ताईस) दिन में तीन प्रकार का रहता है। यही तीन-तीन नवरात्र कहलाते हैं। एक चान्द्रमास में—चान्द्रविद्युत् भेद से आकाश-खण्डत्रय भेद से तीन नवरात्र हो जाते हैं। इस प्रकार ३६० दिन में कुल ४० नक्षत्र हो जाते हैं। २७-२७ दिन में ३-३ नवरात्र होते हैं। इस प्रकार २७ दिन के मास वाले संवत्सर में ३६ नवरात्र हो जाते हैं एवं ३—३ दिन और बचते हैं। इस प्रकार १२ × ३ (बारह-तिया) ३६ के हिसाब से चार नवरात्र हो जाते हैं। इस प्रकार कुल ४० नवरात्र होते हैं। इन चालीस नवरात्रों में चैत्र और आश्विन के दो नवरात्र ही प्रधान माने जाते हैं। चैत्र में सूर्य्य उत्तर-गोल में जाता है। आश्विन में दक्षिण गोल में जाता है। यहाँ ऋतु में एकदम परिवर्तन होता है, अतएव ये दो ही नवरात्र प्रधान माने जाते हैं। दो में भी आश्विन के नवरात्र सबसे प्रधान माने जाते हैं। चैत्र के बजाय आश्विन में ऋतु बहुत ही खराब रहती है। वर्षा के कारण सर्वत्र यमवायु का राज्य रहता है। आश्विन में बीमारी का अधिक प्रकोप रहता है। अतएव कहा जाता है—

"समस्तः कार्त्तिको मासो यमदंष्ट्रेति गीयते"।

अतएव इन नवरात्रों में इन दोषों को हटाने के लिए शक्ति की आराधना की जाती है। इस समय मनुष्यों की शक्ति का ह्रास हो जाता है। उसे

पूरा करने के लिए शक्ति भगवती दुर्गा की–महामाया की–उपासना की जाती है। "उपासना किसे कहते हैं? उपासना से क्यों कर शक्ति-लाभ हो जाता है?" इत्यादि विषयों का विस्तृत विवेचन 'उपासना–रहस्य' में किया जाएगा। कहना यही है कि चन्द्रमासम्बन्धेन एक संवत्सर में चालीस नवरात्र हो जाते हैं। इसीलिए आसुर सम्प्रदाय के यवनलोग चन्द्रमा को ही प्रधान मानते हैं एवं जैसे हिन्दू धर्म्म–सूर्य्य को प्रधान मान कर द्वादशाह करता है तथैव यवन लोग चन्द्रमा को प्रधान मान कर चालीसा किया करते हैं। इनका सारा धर्म्म चन्द्रमा से ही सम्बन्ध रखता है। तिथि भी ये लोग चन्द्रमा से ही मानते हैं। चन्द्रमा की गति के अनुसार ये चालीसा क्यों मानते हैं–इसका सूक्ष्मरूपेण स्वरूप बतला देना अनुचित न होगा।

वैदिक इतिहास देखने से पता चलता है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा से भी पहले–इस भूमण्डल पर 'साध्य' नाम की किसी जाति-विशेष की सत्ता थी। जिस प्रकार आज ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र–यह वर्ण विभाग है–उसी प्रकार उस समय भी ये चार विभाग थे। वे चारों विभाग निम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध थे–साध्य, महाराजिक, आभास्वर, तुषित।" जिस प्रकार आज सारा काम वर्णव्यवस्था पर निर्भर है तथैव उस समय भी सारा काम इन्हीं चारों जातियों में बँटा हुआ था। चूंकि ज्ञान के सीगे (विभाग) के अधिष्ठाता साध्य थे–महाराजिक-क्षत्रिय स्थानापन्न थे। आभास्वर-व्यापार करते थे एवं तुषित लोग तीनों की सेवा करते थे। इन चारों में से जो साध्य लोग थे–उन्होंने ही सबसे पहले यज्ञ-विद्या का आविष्कार किया था। प्रकृति को पहचान कर तदनुसार वैधयज्ञों का आविष्कार इन्हीं साध्यों के द्वारा हुआ था। ये लोग यज्ञ-विद्या में बहुत बढ़े-चढ़े थे। असम्भव से असम्भव काम को यज्ञ द्वारा ये सम्भव बना देते थे, अतएव उस समय सर्वत्र इन्हीं का प्रभाव व्याप्त हो रहा था। ये साध्य लोग वैज्ञानिक तो बड़े जबर्दस्त थे परन्तु थे महानास्तिक। यज्ञ से अलावा यज्ञ का मूलभूत जो ब्रह्मतत्त्व था, उसे ये नहीं मानते थे। "पदार्थ का धर्म्म ही ऐसा है, ऐसी अवस्था में इनके अलावा किसी अन्य परोक्षतत्त्व को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यज्ञ ही सब कुछ है, विज्ञान के अलावा, सायन्स के अलावा–ब्रह्म-ब्रह्म कुछ नहीं है, सायन्स ही सच्चा है"–यही इन

लोगों का सिद्धान्त था । यज्ञ को यज्ञ से मिला कर अर्थात् पदार्थों को पदार्थों से मिला कर हम वैध उपायों से सब कुछ कर सकते हैं । जैसे बीसवीं सदी का पाश्चात्य-जगत् सायन्स के सामने आत्मतत्त्व को अतितुच्छ समझता है–झूँठा समझता है, भारतीय आत्मवाद का उपहास करता है, केवल मेटिरियल (भौतिक) जगत् को ही सबसे ऊँचा आसन देता है–ठीक यही हालत इन साध्यों की थी । यज्ञ से यज्ञ ही करना–यज्ञ-विद्या में ही लगे रहना–यज्ञ के अलावा यज्ञ के मूलभूत ब्रह्मतत्त्व को न मानना–यही उनका सिद्धान्त था । इसी ऐतिहासिक घटना को लक्ष्य में रख कर मन्त्र-श्रुति कहती है—

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।"[१]

इन साध्यों में–उस समय १० (दस) विभाग थे । उन १० (दस) की दृष्टि भिन्न-भिन्न थी । यह सारा संसार किससे उत्पन्न हुआ–इसमें १० (दस) मत थे । सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में १० (दस) वाद प्रचलित थे । कोई पानी से सृष्टि मानता था, कोई अहोरात्र से सृष्टि मानता था–कोई आकाश से सृष्टि मानता था–कोई सदसत् उभयतत्त्व से सृष्टि मानता था । कोई अमृत-मृत्यु की समष्टि से सृष्टि मानता था । इस प्रकार भिन्न-भिन्न १० (दस) मत प्रचलित थे ।

इस प्रकार जब एक ही सृष्टि की उत्पत्ति में १० (दस) मत हो गए तो सामान्य जनता को सन्देह होने लगा कि ऐसा हो नहीं सकता । दसों मत हर्गिज सच्चे नहीं हो सकते । सच्ची बात एक हो सकती है, दस नहीं । परन्तु ये दसों ही मत ऐसे प्रबल थे, दसों में ही ऐसा तर्क-वाद था, जिसका खण्डन करना मनुष्य-बुद्धि के बाहर था । चूंकि दसों का खण्डन हो नहीं सकता था एवं दसों को सच्चा भी नहीं माना जा सकता था, अतएव इसी मूल पर एक ग्यारहवें संशयवाद का जन्म और हुआ । ये ग्यारहों वाद–१-विज्ञानेतिवृत्त-वाद, २-सदसद्वाद, ३-रजोवाद, ४-व्योमवाद, ५-अपरवाद, ६-आवरणवाद, ७-अम्भोवाद, ८-अमृतमृत्युवाद, ९-अहोरात्रवाद, १०-दैववाद, ११-संशयवाद-

---

१ ऋग्वेद मं० १।१६४।५० ।

इन नामों से प्रसिद्ध हुए। इन वादों का ऋग्वेद-संहिता में उल्लेख मिलता है। जब संशयवाद पराकाष्ठा पर पहुँच गया–ब्रह्म-सत्ता में लोगों को सन्देह होने लगा–तो "यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥" के अनुसार इसी साध्यजाति में बाल्हीक (बलख) के पास ही के एक पुष्कर (बुखारा) ग्राम में उसी ब्रह्म के अंश से एक दैवी-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। यही शक्ति अन्त में 'ब्रह्मा' नाम से प्रसिद्ध हुई। इनका जन्म-स्थान पुष्कर में है–जो कि आज 'बुखारा' नाम से प्रसिद्ध है। भारतवर्ष में ब्रह्मा तीन बार आए थे। जिस जगह वे पहले-पहल आ कर ठहरे–वह स्थान भी पुष्कर नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु जन्मभूमि बुखारे वाला पुष्कर ही समझना चाहिए। इन्होंने ही 'संशयवाद' का उच्छेद किया। साध्य बड़े दुराग्रही थे। उन्होंने इनकी बात मानना स्वीकार न किया। अत-एव इन्होंने तुषितों को अपने मत में शामिल करना प्रारम्भ किया। होते-होते सारे तुषित इनके मत में आ गए। जब तुषितों के आ जाने से इनका बल बढ़ गया तो इन्होंने साध्यों से शास्त्रार्थ करना प्रारम्भ कर दिया। इनका कहना था कि तुम्हारे दस मत सच्चे हैं एवं दसों ही मत झूठे हैं। यदि इन दस का एक ही मूल स्वीकार कर लिया जाता है, तो दस मत सच्चे हैं। यदि उस मूलभूत ब्रह्मतत्त्व को नहीं माना जाता है तो दसों मत मिथ्या हैं। भगवान् ब्रह्मा की प्रतिमा के सामने साध्य लोग कब तक ठहर सकते थे? अन्त में इनको बाध्य हो कर ब्रह्मसत्ता स्वीकार करनी पड़ी। उन्हें इस बात को मानना पड़ा कि वास्तव में यज्ञ की मूलभूत कोई ब्रह्मसत्ता अवश्य ही है। इन दसों मतों का और इनके खण्डन का एवं एकत्ववाद की स्थापना का उल्लेख ऋग्वेद संहिता में मिलता है। श्रुति कहती है—

**"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्"॥[१]**

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास"॥ इति[२]

---

१ ऋग्वेद मं० १०।१२९।१। २ ऋग्वेद मं० १०।१२९।२।

चूँकि साध्यजाति में उत्पन्न इस महापुरुष द्वारा ब्रह्मसत्ता का प्रचार हुआ, अतएव तत्कालीन विद्वानों ने इनका यशोनाम--'ब्रह्मा' रख दिया। ब्रह्मतत्त्वाविष्कार करने के कारण संसार ने उन्हें 'ब्रह्मा' नाम से व्यवहृत किया। जैसे प्राकृतिक प्राण-देवताओं में सबसे पहले अग्निब्रह्म का जन्म होता है–तथैव भुवनस्वर्गवासी देवताओं में सबसे पहले देवता यही हुआ है। देव-व्यवस्था इन्हीं से प्रारम्भ हुई। संसार में नास्तिकवाद फैल गया था, उसका मूलोच्छेद कर उसके आक्रमण से इन्हीं भगवान् ब्रह्मा ने रक्षा की। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव बिश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥" इति[1]

इन भगवान् ब्रह्मा ने प्रकृति-रचना के अनुसार चार नई सृष्टियाँ बनाईं। सबसे पहले इन्होंने लोक-सृष्टि का निर्म्माण किया। प्रकृति में त्रैलोक्य-व्यवस्था सर्वथा व्यवस्थित है। जिस पृथिवीपिण्ड पर हम रहते हैं–प्राकृतिक नित्य त्रिलोकी का यह पृथिवी-लोक है। इसी को 'त्रिवृत्-स्तोम' कहा जाता है। त्रिवृत्-स्तोम तक पृथिवीलोक है एवं त्रिवृत् स्तोम से पञ्चदश स्तोम तक का–सूर्य्य और पृथिवी के बीच का जो खाली स्थान है–वह अन्तरिक्ष-लोक कहलाता है एवं १५ (पन्द्रह) से २१ (इक्कीस) तक द्युलोक है। पृथिवी के अधिष्ठाता अग्नि हैं। अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता वायु हैं एवं द्युलोक के अधिष्ठाता भगवान् सूर्य्य हैं। अतएव भगवान् यास्क कहते हैं—

"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः–अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्य्यो द्युस्थानः।[2]

ये ही तीन देवता अवस्थाविशेष के कारण ३३ (तेतीस) स्वरूपों में परिणत हो जाते हैं जिनका कि विस्तृत-विवेचन पूर्व के प्रकरणों में कर दिया गया है। इस प्राकृतिक त्रैलोक्य का नाम 'रोदसी' त्रिलोकी है। रोदसी के

---

१ मुण्डक उप० १।१।१। २ यास्क नि०दै०कां० ७।५।१-२।

बाद में क्रन्दसी त्रिलोकी है–क्रन्दसी के बाद में संयती त्रिलोकी है। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्–इन सात लोकों में रोदसी, क्रन्दसी, संयती–ये तीन त्रिलोकियाँ विभक्त हैं।[1] प्रकृत में केवल रोदसी त्रिलोकी को–जिसे कि हम आँखों से देखते हैं–समझना चाहिए। इसी रोदसी त्रिलोकी से पृथिवी के यच्चयावत् प्राणियों की उत्पत्ति होती है। पार्थिव-रस, आन्तरिक्ष्य-रस एवं सौर-रस–इन तीनों से ही यच्चयावत् जड़-चेतन की उत्पत्ति होती है। अग्नि-वायु-आदित्य ही इस रोदसी त्रिलोकी के अधिष्ठाता बने।

पुष्कर में उत्पन्न होने वाले भगवान् ब्रह्मा ने संसार की शान्ति के लिए ऐसी व्यवस्था करनी चाही जिससे भविष्य में फिर ऐसी अशान्ति न हो। इन्होंने विचार किया कि मनुष्य-कल्पित जितनी भी व्यवस्थाएँ हैं–वे सब नाशवान् हैं एवं प्रकृति की–नेचर की–जो व्यवस्था है–वह सर्वथा अटल है। अतः हमें उसी तरह व्यवस्थित करना चाहिए–जिस तरह प्रकृति व्यवस्थित है। बस, यह सिद्धान्त स्थिर कर भगवान् ब्रह्मा ने जैसी स्थिति आधिदैविक में है–ठीक वैसी ही रचना इस आधिभौतिक की कर डाली। सर्वप्रथम-प्राकृतिक त्रिलोकी के अनुसार त्रैलोक्य-व्यवस्था की। जिसे आज 'एशिया' कहा जाता है–वही भुवन-त्रिलोकी थी। इसी में तीन लोक कायम किए गए। जो 'भारतवर्ष' है उसे 'पृथिवीलोक' माना गया एवं इस देश में रहने वाले मनुष्य कहलाए, क्यों कि प्रकृति में भी पृथिवीलोक में मनुष्य ही रहते हैं। दक्षिण समुद्र से हिमालय पर्वत तक का जो स्थान है–वही भुवनत्रिलोकी का पृथिवीलोक कहलाया। अलतायी पर्वत से उत्तर समुद्रान्त तक का स्थान स्वर्ग कहलाया एवं हिमालय और अलतायी के बीच के जो दर्रे हैं–वह अन्तरिक्ष-लोक कहलाया। भारतवर्ष में मनुष्य रहते थे–अन्तरिक्ष में गन्धर्व-किन्नर इत्यादि तिर्य्यंग्-योनि रहती थी एवं स्वर्ग में मनुष्य-देवता रहते थे।

हिमालय से दक्षिण पृथिवीलोक था–हिमालय से अलतायी पर्वत तक अन्तरिक्षलोक था एवं अलतायी से उत्तरसमुद्र तक स्वर्ग था। इस प्रकार इसी पृथिवी-मण्डल पर प्रकृतिवत् तीनों लोक व्यवस्थित किए गए थे, जैसा कि भृगु

---

१ इनका विवेचन स्व० शास्त्रीजी कृत 'ईश्वरकृष्ण-रहस्य' में किया गया है।

और भरद्वाज के संवाद में–महाभारत में लिखा है–महर्षि भृगु से भरद्वाज कहते हैं—

"अस्माल्लोकात् परो लोकः श्रूयते न उपलभ्यते।
तमहं ज्ञातुमिच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति।"[1]

महर्षि भृगु उत्तर देते हैं—

"उत्तरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते।
पुण्यः क्षेम्यश्च काम्यश्च स वरो लोक उच्यते"॥[1]

"स स्वर्गसदृशो देशस्तत्र ह्युक्ताः शुभा गुणाः।
काले मृत्युः प्रभवति स्पृशन्ति व्याधयो न च"॥[1]

इन श्लोकों से बतलाना हमें यही है कि इस पृथिवीलोक पर ही प्रकृतिवत् त्रैलोक्य-व्यवस्था थी। पृथिवीलोक के अधिष्ठाता अग्नि थे, अन्तरिक्ष के वायु थे एवं द्युलोक के इन्द्र थे। अग्नि थे देवता ही परन्तु इनको भारतवर्ष का वायसराय बना कर भेजा गया था। भारतवर्ष के सम्राट् महाराज 'मनु' थे एवं शहंशाह इन्द्र थे जो कि स्वर्ग के राजा थे। अग्नि स्वर्ग की ओर से भारतवर्ष में रहते थे, पृथिवी में रहते थे। प्रकृति में भी तो सूर्य्य का अग्नि पृथिवी का अधिष्ठाता बनता है। इन सारी व्यवस्थाओं का यदि विस्तृत विवेचन किया जाए तो एक महापोथा तय्यार हो जाए, अतएव इस विषय को अधिक न बढ़ा कर केवल इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि भगवान् ब्रह्मा ने इस पृथिवीलोक में भी त्रिलोकी का निर्म्माण किया। यही पहली 'लोक-सृष्टि' है।

दूसरी थी वेदसृष्टि। जिस प्रकार प्रकृतियज्ञ में ऋग्यजुःसामअथर्ववेद आसमन्ताद् अभिव्याप्त हो रहे हैं–उनके रहस्य को समझाने के लिए भगवान् ब्रह्मा ने उस अपौरुषेय वेद के ४ (चार) ग्रन्थ बनाए, जो कि ऋग्वेद, यजुर्वेद,

---

१ महाभारत शान्तिपर्व (मोक्षधर्मपर्व) अ० १८५।७-८-१०

सामवेद, अथर्ववेद नाम से प्रसिद्ध हैं। परन्तु ध्यान रहे, आजकल जो इन मन्त्रों को–वेद संहिताओं को–पुस्तकों को–अपौरुषेय बतलाया जाता है, हमारे खयाल से यह सर्वथा गलत है। वेदविद्या की ये पुस्तकें महर्षियों द्वारा बनाई गई हैं। मन्त्र मनुष्यमहर्षियों के बनाए हुए हैं न कि अपौरुषेय हैं। जो प्रकृति की वेद-त्रयी है वह सर्वथा नित्या है। प्राकृतिक नित्य-वेद अवश्य ही अपौरुषेय है। उस अपौरुषेय वेद-रहस्य को समझाने की विद्या का–तरीके का–नाम संहिता है। संहिताएँ वेद नहीं हैं, वेद की पुस्तक हैं। अस्तु, इस विषय का विस्तृत विवेचन प्रकृत में नहीं किया जा सकता। यहाँ सिर्फ इतना ही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि भगवान् ब्रह्मा ने वेदसंहिता का निर्म्माण कर अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को सर्वप्रथम वेद-विद्या सिखलाई। साध्य-लोग जिन मन्त्रों से यज्ञ किया करते थे, उन्हें 'गाथा' कहा जाता था। परन्तु ब्रह्मा ने यज्ञ-विद्या के लिए नया सिस्टम कायम किया था–नई संहिताएँ बनाईं जो कि ११३१ भागों में विभक्त है। यही दूसरी 'वेद-सृष्टि' है।

तीसरी है 'धर्म्मसृष्टि'–'वर्णसृष्टि'। भुवनत्रिलोकी के यच्चयावत् मनुष्यों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्णों में विभक्त किया था। वर्ण और तदनुकूल धर्म्म दोनों का आविष्कार इन्होंने ही किया था।

चौथी सृष्टि थी–'गोत्रसृष्टि'। गोत्र-प्रवर्त्तक महर्षि कुल सात हैं–कश्यप, अङ्गिरा, भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र अगस्त्य–ये सात ही महर्षि गोत्र-प्रवर्त्तक थे। भगवान् ब्रह्मा भारतवर्ष में आए थे। यहाँ पर आ कर जिस स्थान में ब्रह्मा ने यज्ञ किया था–वही आज 'पुष्कर-तीर्थ' कहलाता है। इस यज्ञ में जिन-जिन ब्राह्मणों का वरण किया–वे ही गोत्र-प्रवर्त्तक माने गए। बस, यही चौथी 'गोत्र-सृष्टि' थी। इन चारों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। अमुक देश का रहने वाला (लोक)–(अमुक शाखा वाला) (वेद) अमुक गोत्र वाला, अमुक वर्ण का, मनुष्य अमुक कर्म्म करता है–इस प्रकार लोक, वेद, गोत्र, वर्ण–चारों परस्पर सम्बद्ध हैं। पाँचवी सृष्टि थी–'देव-सृष्टि'।

प्रकृति में–इन्द्र, वायु, रुद्र, विष्णु, गणपति, वसिष्ठ, अगस्त्य, मत्स्य, भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, असुर, गन्धर्व, इत्यादि जो प्राण विशेष हैं–उन सबकी

उसी प्रकृति के अनुसार यहाँ भी रचना की गई। इस कल्पना को मिथ्या नहीं समझना चाहिए। यह कल्पना कोरी कल्पना ही नहीं थी। जिसको यहाँ अग्नि, इन्द्र वाय्वादि बनाया था, उन सबका उन-उन प्राणों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, अर्थात् उस-उस प्राण की ये लोग ऐसी आराधना करते थे–जिससे जो शक्ति उन प्राणदेवताओं में है, उसी का आविर्भाव इनमें हो जाता था। पृथिवीलोक में जिन्होंने इन्द्रादिप्राण को आत्मसात् किया–वे उन्हीं प्राण-देवताओं के नाम से प्रसिद्ध हुए। यही देव-सृष्टि कहलाई। इस देव-जाति का मनुष्यों के भारतवर्ष पर शासन था–जैसा कि पूर्व में बतला दिया गया है। उस समय देवताओं के स्वर्ग से मनुष्यलोक में आने के तीन मार्ग थे। मूजवान् भूटान, वसोर्धारा। ये तीनों ही स्वर्ग-द्वार कहलाते थे। इन तीनों में–वसोर्धारा तो आज भी स्वर्गद्वार नाम से प्रसिद्ध है एवं वहाँ यात्रा के लिए हजारों मनुष्य जाते हैं। भगवान् ब्रह्मा ने–जैसी त्रिलोकी देवताओं को दी थी वैसी ही त्रिलोकी असुरों को भी दे रक्खी थी। इतना ही नहीं अपितु, देवताओं से अधिक स्थान रक्खा था क्यों कि असुर देवताओं की अपेक्षा अधिक थे। प्रकृति में सौर-प्राण का नाम देवता है, तम का नाम असुर है। जिनका आत्मा सौर-प्राण से बना–वे देवता कहलाए एवं जिनका तमोभाव से बना, वे असुर कहलाए। चूँकि प्रकाश और अन्धकार में स्वाभाविक वैर है एवं इन्हीं से मनुष्य-देवताओं और असुरों का आत्मा बनाया, अतएव पृथिवीलोक में रहने वाले देवताओं और असुरों में खूब ही द्वेष रहता था। देवताओं के प्रत्येक कार्य में असुर बाधा डाला करते थे। परन्तु असुरों की संख्या ज्यादा होने पर भी देवता लोग–सोमरस और विज्ञानभवन की बदौलत हर समय असुरों को परास्त कर देते थे। उस समय ६४ (चौसठ) विद्या और ६६ कला प्रचलित थीं। इनमें से असुर कला के विद्वान् थे एवं देवता विद्या के अधिष्ठाता थे। इसी विद्या के प्रभाव से देवसेनाओं के स्वामी इन्द्र ने परमेष्ठिमण्डल से औष-धियों में आने वाले सोम को जो कि सोम अत्यन्त बलवर्द्धक एवं नया जीवन पैदा करने वाला है, पहचान लिया। पहचान कर जिन-जिन औषधियों में वह सोम-रस था उसकी वैज्ञानिक विधि द्वारा पूर्ण परीक्षा कर–उन सब औषधियों पर सख्त पहरा कर दिया। अपने अनुचरों को कड़ी आज्ञा देते हुए कहा कि खबरदार! असुर इनमें से एक भी पत्ता न ले पाएँ। यह सोमवल्ली

मूजवान, भूटान और 'वसोधरी' इन तीन ही पर्वतों पर थी। इस प्रकार अमृतापरपर्य्याय सोम को अपने अधीन कर तद्द्वारा इन्द्र असुरों से क्षत-विक्षत देवताओं को फिर से सबल एवं युद्ध करने लायक बना देते थे। इसी सोम-रस के बल से असुरों को देवताओं से बार-बार पराजित होना पड़ता था। दूसरा बल था देवताओं के पास–'विज्ञानभवन'। इस विज्ञान-भवन का दूसरा नाम था 'सूर्य्यसदन'। इसके रक्षक महाराज सूर्य्य को बनाया था। इस विज्ञानभवन द्वारा, जो कि सिन्धुनद के पास टीले पर सरस्वती नदी के निकट वसिष्ठाश्रम के पास था, जिसके कि संचालक महर्षि भरद्वाज थे, नए-नए आविष्कार होते थे। इस प्रकार सोम के बल से केवल आविष्कार बल को ही जानने वाले असुरों को, देवता-लोग सदा परास्त किया करते थे।

इस प्रकार देवताओं को परास्त करने में सर्वथा असमर्थ देख कर असुरों ने विचार किया कि जब तक सोमवल्ली एवं विज्ञानभवन को नष्ट न किया जाएगा, तब तक इनको परास्त करना सर्वथा असम्भव है। अतः अन्य सब कामों को छोड़ कर पहले इन दोनों पदार्थों को नष्ट करना चाहिए। यह विचार पक्का कर असुरों ने सारा बल इसी काम में लगा दिया। असुरों को दोनों के विनाश में सन्नद्ध देख कर इन्द्र ने उन दोनों स्थानों का और भी कड़ा प्रबन्ध कर दिया। किन्तु, असुरों का सारा बल इसी कार्य्य में लग गया था, अतः उन्होंने इन्द्र के सारे प्रबन्ध को मटियामेट कर दिया। जब इन्द्र ने देखा कि अब हमारे बस की नहीं है तो वे प्रजापति ब्रह्मा के पास (जो कि एशिया माइनर में रहते थे) पहुँचे। वहाँ जा कर उन्हें सारी स्थिति का दिग्दर्शन कराया। प्रजापति ने उत्तर दिया कि हे देवाधिपति! सोमवल्ली की रक्षा करने का सामर्थ्य क्षात्रवीर्य्य में नहीं है। इसके लिए किसी ब्रह्मवीर्य्य को नियुक्त करना पड़ेगा, अतएव तुम अग्नि को (जो कि भारत के वायसराय थे) खबर करो कि इस समय भारतवर्ष में अति तेजस्वी एवं अत्यन्त सौम्यमूर्ति–अत्रिमहर्षि के पुत्र जो चन्द्रमा हैं–उनको देव-कार्य्य के लिए हमारे पास भेज दो। इस प्रकार प्रजापति का यह अनुशासन पा कर इन्द्र ने अग्नि द्वारा चन्द्रमा को भारतवर्ष से अपने पास बुलाया एवं बुला कर उसे साथ ले पुनः प्रजापति के पास पहुँचे। प्रजापति ने राज्याभिषेक कर–उसके द्वारा अखिल भूमण्डल

की परिक्रमा दिलवा कर एवं उसे उत्तरदिशा का लोकपाल बना कर–तीन लाख गन्धर्वों को उसके साथ कर–जहाँ पर सोमवल्ली थी–वहाँ पर उसकी रक्षा के लिए उस अभिषिक्त चन्द्रमा को नियुक्त कर दिया। वहाँ पर पहुँच कर चन्द्रमा ने अपने भुजबल से सारे असुरों को परास्त कर डाला। इसी अभिप्राय से भगवान् व्यास कहते हैं—

"पतन्तं सोममालोक्य ब्रह्मा लोकपितामहः ।
रथमारोपयामास लोकानां हितकाम्यया ।।

स हि देवमयो विप्रा धर्मार्थी सत्यसंगरः ।
युक्तो वाजिसहस्रेण सितेनेति हि नः श्रुतम् ।।

स तेन रथमुख्येन सागरान्तां वसुन्धराम् ।
त्रिःसप्तकृत्वो विपुलश्चकाराभिप्रदक्षिणम्" ।।[1]

बृहस्पति चन्द्रमा के गुरु थे। वे चन्द्रमा के पास अक्सर आया करते थे। एक समय चन्द्रमा ने गुरु से प्रार्थना की कि भगवन्! किसी समय मेरे घर को गुराणी (गुरु-पत्नी) के चरणों से पवित्र करवाइए। चन्द्रमा के बारम्बार प्रार्थना करने से बृहस्पति ने इनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। इस प्रकार निमन्त्रित हो कर जब गुरुपत्नी तारा चन्द्रमा के घर आई तो दैवदुर्विपाक से चन्द्रमा का मन इस पर आसक्त हो गया एवं तारा का मन चन्द्रमा पर आसक्त हो गया। आगे कहना व्यर्थ है। इस परस्परासक्ति के कारण वह विष तय्यार हुआ जिसने कि संसार में से देवसत्ता का आमूलचूड विध्वंस कर उसे उखाड़ फेंका। अस्तु चन्द्रमा इस तरह से इसमें अनुरक्त हुए कि वे तारा को एक क्षण भी अपने से अलग नहीं करना चाहते थे। उधर बृहस्पति ने देखा कि तारा अभी तक नहीं आई। देखें, चलें, उसके अब तक न आने का क्या कारण है? यह विचार कर जब बृहस्पति चन्द्रमा के घर गए तो चन्द्रमा ने दूर ही से उनको फटकार दिया और कह दिया कि हे भूदेव! यह सुन्दर नारी-रत्न तो हमारे जैसे युवा-पुरुषों की भोग्य-वस्तु है। आप तो भगवद्भजन कीजिए। आपको

---

१ वायु पुराण अ० ९०।९-१०-१४।

अपनी स्त्री वापस नहीं मिलती। उधर तारा भी इतनी अनुरक्त हो गई थी कि उसने भी बृहस्पति के साथ जाने का निषेध कर दिया। इस प्रकार जब बृहस्पति सर्वथा निराश हो गए तो इन्होंने इन्द्र से जा कर प्रार्थना की कि आप मेरे क्लेश को दूर कीजिए। उनके कष्ट को सुन कर इन्द्र ने उनको आश्वासन दिया और उसी समय चन्द्रमा को, तारा को मुक्त करने के लिए पत्र लिख भेजा। परन्तु चन्द्रमा तो मदान्ध हो रहा था। उसने इन्द्र के पत्र की भी अवहेलना कर दी। जब इन्द्र ने यह खबर सुनी तो उसी समय उन्होंने सेना इकट्ठी कर चन्द्रमा पर चढ़ाई कर दी। उधर जब चन्द्रमा ने सुना कि इन्द्र सम्पूर्ण देवताओं को ले कर मेरे साथ युद्ध करने आ रहे हैं तो इनको चिन्ता हुई, क्यों कि इनको विश्वास था कि मैंने जैसा काम किया है–उसमें मुझे इस समय कोई भी देवता सहायता नहीं दे सकता। उधर असुरों ने अपने गुप्तचर लगा रक्खे थे। गुप्तचरों के द्वारा जब चन्द्रमा के चिन्तित होने की खबर असुरों को मिली तो ये फौरन चन्द्रमा के पास गए और बोले कि हे लोकपाल ! आप देवताओं से क्यों डरते हैं ? हम सब लोग आपकी मदद के लिए कटिबद्ध हैं। हमारी प्रार्थना है कि आप देवताओं से जरा भी न डरते हुए उन से युद्ध करने के लिए तय्यार रहें। जो बुरा काम कर लेता है–वह उसे किसी तरह छुपाने की कोशिश करता है एवं उसका आत्मा गिर जाता है–विवेक-शक्ति नष्ट हो जाती है। अतः चन्द्रमा असुरों के चकमे में आ गए। असुरो को अपना हितू समझते हुए चन्द्रमा ने सोम की रक्षा में उपेक्षा कर दी। बस, फिर क्या था ? उसी समय असुरों ने सारी सोमवल्ली को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। इस प्रकार यही चन्द्रमा देवताओं के नाश के कारण बने एवं तभी से असुरों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। चूंकि इनके राज्य को जमाने में चन्द्रमा ने सहायता दी थी अतः निदान-विद्या द्वारा आज भी असुर लोग उसी चन्द्रमा को मानते हैं एवं अपने मरने पर चन्द्रगति के अनुसार ४० सा (चालीसा) करते हैं। चन्द्रमा ने इनको मदद पहुँचाई थी, अतएव असुरों का सारा व्यवहार इसी चन्द्रमा के आधार पर चलता है। भारतवर्ष में एक निदान-विद्या प्रचलित थी। प्राचीन महर्षियों ने मानवी घटनाओं को सदा स्थिर रखने के लिए उन कथाओं को नदी, पर्वत, नक्षत्रों पर डाल दिया था। उन सब कथाओं की कल्पना उन तारों पर घटित कर दी थी। उनका ख़याल था कि ऐसा करने से यह इतिहास सदा के लिए अमर हो जाएगा।

इसी का नाम निदान-विद्या है। हमने बतलाया था कि पौराणिक यच्चयावत् आख्यान इतिहास और विज्ञान–दोनों में लागू होते हैं। पूर्वोक्त ताराहरण आख्यान भी दोनों में लागू है। मनुष्य चन्द्रमा ने भी मनुष्य बृहस्पति की स्त्री का अपहरण किया था एवं आकाशस्थ-नक्षत्र चन्द्रमा ने भी ग्रह बृहस्पति की स्त्री तारा का अपहरण किया था। नक्षत्र चन्द्रमा ने बृहस्पति की स्त्री का अपहरण कैसे किया था ?[1]

आकाश की स्थिति समझे बिना 'रास-रहस्य' समझना कठिन था, अतएव अप्रासङ्गिक होते हुए भी आकाश की और नक्षत्रों की संस्था का स्वरूप बतलाना पड़ा। अब प्रकृत का अनुसरण करते हुए हम 'रास-रहस्य' ही बतलाएँगे। हमने बतलाया है कि सारे नक्षत्र परज्योति हैं–पानी के गोले हैं, अतएव इन्हें 'उडु' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। ये नक्षत्र सूर्य्य के बृहत् साम से भी बहुत परे हैं, तथापि सूर्य्य-ज्योति से आकृष्ट हो कर ये चमकदार बन जाते हैं। जैसे सूर्य्य-रश्मियों के सम्बन्ध से चन्द्रमा प्रकाशित हो जाता है तथैव ये नक्षत्र भी सूर्य्य-प्रकाश से प्रकाशित हो जाते हैं। सूर्य्य-रश्मियों द्वारा इन नक्षत्रों का प्राण रोदसी त्रिलोकी में–और चन्द्रमा में–और पृथिवी में आ जाता है। हम तक नक्षत्र-प्राण मौजूद हैं। चन्द्रमा के पास आए हुए जो नक्षत्र हैं अर्थात् नक्षत्र-प्राण हैं–वे २७ (सत्ताईस) हैं।

चन्द्रमा इस नक्षत्र-मण्डल का तीन प्रकार से भोग करता है। २७ (सत्ताईस) नक्षत्रों का भोग तीन प्रकार से होता है। पृथिवी को केन्द्र में रख कर चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। पृथिवी के बाहर चारों ओर जो नक्षत्र हैं–उनकी परिक्रमा-पृथिवी की प्रदक्षिणा से होने से अट्ठाईस दिन में समाप्त हो जाती है। यही पहला भोग है। चन्द्रमा का तक्षत्रों के साथ भोग पृथिवी को केन्द्र में रख कर परिक्रमा करने से २७ दिन ७ घण्टे ४३ मिनिट में समाप्त हो जाता है। इस प्रकार नक्षत्रसम्बन्धेन चान्द्र संवत्सर ३३३ दिन का होता है। गवामयन, अङ्गिरसामयनादि यज्ञों में ३३३ दिन के चान्द्र संवत्सर का ही ग्रहण किया जाता है।

---

१ [illegible] श्रीगुरुवर पं० मधुसूदन ओझा प्रणीत 'अत्रिख्याति' चन्द्रप्रकरण में देखना चाहिए।

सूर्य्य बृहती पर–इक्वेटर पर स्थिर रहता है–इसके चारों ओर पृथिवी परिक्रमा लगाती है। पृथिवी-परिभ्रमण-मार्ग का नाम है 'क्रान्ति-वृत्त'। इसी क्रान्ति-वृत्त पर पृथिवी घूमती है। पृथिवी से ही चन्द्रमा बद्ध रहता है, अतएव इसे भी सूर्य्य के चारों ओर घूमना पड़ता है। कल्पना कर लीजिए आज अश्विनी नक्षत्र पर पृथिवी और चन्द्रमा हैं। अब यहाँ से दोनों रवाना होते हैं। पृथिवी २¼ (सवा दो) नक्षत्र का भोग १ (एक) महिने में करती है एवं चन्द्रमा सवा दो दिन में सवा दो नक्षत्र का भोग कर लेता है। पृथिवी जब अश्विनी से कृत्तिका पर पहुँचती है तो चन्द्रमा सारे नक्षत्रों की परिक्रमा करके पृथिवी के पास चला जाता है। परन्तु ठीक कृत्तिका तक नहीं जा पाता। दोनों में कुछ अन्तर पड़ जाता है। चन्द्रमा कुछ आगे निकल जाता है। इस प्रकार चन्द्रमा तो वापस उसी अश्विनी पर ३५४ वें दिन आ जाता है-परन्तु पृथिवी १३ अंश के करीब–एक नक्षत्र के करीब पीछे रह जाती है। इस प्रकार चन्द्रमा और पृथिवी में १२ दिन का अन्तर पड़ जाता है। होते-होते २½ (अढ़ाई) वर्ष में जा कर पृथिवी और चन्द्रमा में ३० दिन का अन्तर हो जाता है। यही 'अधिक मास' कहलाता है। जिस अश्विनी नक्षत्र से पृथिवी और चन्द्रमा चले थे वापस उसी अश्विनी पर दोनों का मेल ६ ठे वर्ष में जा कर होता है। यही पञ्चवर्षात्मक एक युग कहलाता है। कहना यही है कि पृथिवी और चन्द्रमा–दोनों सूर्य्य की परिक्रमा लगाते हैं। जैसा कि श्रुति कहती है—

"सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्।
देवत्रा रथ्योर्हिता"-इति ॥[1]

यहाँ हमें 'रास' बतलाना है। रास का सम्बन्ध चन्द्रमा से है। अतएव चन्द्रमा की गति का ही विवेचन करेंगे। चन्द्रमा का यह दूसरा नक्षत्र-भोग ३५४ दिन में समाप्त हो जाता है एवं पृथिवी का जो अयन है अर्थात् क्रान्ति-वृत्त और विषुवद्वृत्त का संपात है–वह विषुवद्वृत्त के चारों ओर घूमता है। इसकी परिक्रमा २५ हजार ६ सौ ४० दिन में समाप्त होती है। अयन का सम्बन्ध पृथिवी से है। अयन परिक्रमा लगाता है–इसका अर्थ है–पृथिवी

---

१ सामवेद पू० २।२।६।१०।

परिक्रमा लगाती है । पृथिवी के साथ चूँकि चन्द्रमा बद्ध है, अतएव इसका भी परिक्रमा करना सिद्ध हो जाता है । पहला भोग तो चन्द्रमा का अपना स्वतन्त्र है । यह २७ (सत्ताईस) दिन ४५ (पैंतालीस) घड़ी का है एवं अयन परिभ्रमण और सौर-परिभ्रमण दोनों परतन्त्र हैं–पृथिवी के साथ हैं । सौर-परिभ्रमण ३५४ दिन में होता है एवं अयन परिभ्रमण २५ हजार ९ सौ ४० वर्ष में होता है । इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"अथेदं रासरहस्यं वक्ष्यामः । नक्षत्राण्यापः इति सिद्धान्तादुडुशब्देन तानि व्यपदिश्यन्ते । दविष्ठान्यपि (अतिदूरस्थितान्यपि) सूर्य्यज्योतिषाकृष्टानि तैजसानि संपद्येह रोदस्यां, चन्द्रे, पृथिव्यां चोपसन्नानि जायन्ते । तदिदं नक्षत्रमण्डलम्–अयं चन्द्रस्त्रेधा[1] परिक्रममाणो भुङ्क्ते—

"पृथिवी-प्रादक्षिण्येन अह्नां सप्तविंशत्या किंचिदधिकया त्वन्यथा ॥१॥
"सूर्य्य-प्रादक्षिण्येन अह्नां त्रिंशत्या चतुःपञ्चाशदधिकया चापरथा ॥२॥
"अयनपरिभ्रमणेन पञ्चविंशतिसहस्राधिकवर्षपूगैश्चान्यथा ॥३॥

इस प्रकार तीन प्रकार से परिभ्रमण करने के कारण चान्द्रमास तीन प्रकार का हो जाता है । एक का नाम मासिक मास है । दूसरे का नाम सांवत्सरिक मास हो जाता है । तीसरे का नाम **आयनिक मास** हो जाता है । जैसे पृथिवी-परिभ्रमणकाल को 'संवत्सर' कहा जाता है तथैव चान्द्र-परिभ्रमणकाल को 'मास' कहा जाता है । चन्द्रमा स्वयं मास नाम से व्यवहृत होता है । मासे क्विप् प्रत्यय करके चन्द्रमस् से 'चन्द्रमाः' शब्द बनाया जाता है । चन्द्रमा प्रतिक्षण बदलता रहता है । उसकी एक सी स्थिति कभी नहीं रहती । 'अमा' से ही चलिए । अमा को उसका पृथिवी की ओर का हिस्सा अप्रकाशित रहता है । द्वितीया को प्रकाश दूसरी ओर होता है । तृतीया को तीसरी ओर आ जाता है । इस प्रकार ३० दिन में तीस स्थानों पर प्रकाश बदल जाता है । चन्द्रमा का बिन्दु विवारित भी है । अपिच अश्विनी पर जब चन्द्रमा रहता है तो उसका रस दूसरी ही तरह का रहता है–भरणी पर दूसरी ही तरह का रहता

---

१ तुलनीय–पं० मधुसूदन ओझा प्रणीत श्रीमद्भगवद्गीता–विज्ञानभाष्य के आचार्यकाण्ड से–पृष्ठ सं० २२७ ।

है। २७ (सत्ताईस) नक्षत्रों में भिन्न-भिन्न स्थिति रहती है। इस प्रकार चूंकि चन्द्रमा परिणामी है–परिवर्तनशील है–अतएव 'चन्द्र सन् मस्यति' इस व्युत्पत्ति से इसे 'चन्द्रमाः' कहा जाता है। जो परिवर्त्तित होता है–उसका नाम 'मस्यतीति' व्युत्पत्ति से 'माः' होता है। चन्द्रमा होता हुआ यह पिण्ड परिवर्त्तित होता है–अतएव इसे 'चन्द्रमाः' कहा जाता है। अथवा 'मसि' परिणामे धातु से 'णिव' प्रत्यय करके मास् शब्द समझना–मसि से 'णिव' प्रत्यय होता है। णित्वात्–आदि वृद्धि हो जाती है। मास्-सकारान्त शब्द बन जाता है। 'मस्यति इति मास्' यही इस 'माः' की उपपत्ति समझनी चाहिए। चन्द्रमा परिवर्त्तित होता है–अतएव इसका नाम 'मास्' है। मास चन्द्रमा का पर्य्याय है।

पूर्वोक्त तीनों भोगकाल चूंकि मास के हैं अर्थात् चन्द्रमा के हैं अतएव हम "मासः (चन्द्रस्य) अयं भोगकालः" इस व्युत्पत्ति से तीनों को 'मास' शब्द से ही व्यवहृत कर सकते हैं। मासः–अयं मासः। इसमें पहले का मास शब्द षष्ठ्यन्त है–चन्द्रवाचक है, अन्त का मास शब्द प्रथमान्त है एवं चन्द्रमण्डल भोगोपलक्षित काल का वाचक है। इस प्रकार चन्द्रमसः–अयं–अथवा मासः–अयं–इन दोनों तरह से चन्द्रमा के भूमण्डलोपलक्षित काल को 'मास' कहा जाता है। इतना कहने का कारण यही है कि मास शब्द से कोई महिना न समझे। चन्द्रमा का संवत्सर भी मास ही कहलाता है एवं मास भी मास ही कहलाता है। मास नाम चन्द्रमा का है। इसका भोग-काल कोई भी हो–सबको 'मासः अयं' इस व्युत्पत्ति से 'मास' कहने के लिए तय्यार हैं। चन्द्रमा का भूमण्डलोपलक्षित जो काल है वह तीन प्रकार का है–१. पार्थिव २. सौर ३. आयनिक। बस, इन-इन तीनों मासों को ही–चन्द्रपरिभ्रमण काल को ही–हम 'रास' कहेंगे।

रस को बरसाने वाले जो परिभ्रमण हैं–वही 'रास' कहलाते हैं। 'रास' शब्द की **"रसमनुवर्तयते"** यही व्युत्पत्ति है। जो रस बरसाए–रस प्रदान करे–उसी का नाम रास है। चन्द्रमा का जो परिभ्रमणकाल है–वही रस बरसाता है। अतएव उस परिभ्रमण-काल को हमारे पृथिवीलोक पर आनन्द, दधि, मधु, घृत, अमृत,–यह पाँच प्रकार का रस बरसाता है। यद्यपि ये सारी

वस्तुएँ आती हैं सूर्य से, परन्तु चन्द्रमा ही द्वार है। चन्द्रमा द्वारा ही पृथिवी में सारे रस आते हैं। वे पदार्थ कुल पाँच ही प्रकार के हैं। हम जो अन्न खाते हैं-उससे एक प्रकार का मजा आता है—आनन्द आता है—जिसका कि वर्णन नहीं हो सकता। इस आनन्द का नाम ही रस है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" इति।[1]

हम जितने भी पदार्थ खाते हैं—उनमें दधि-घृत-मधु और अमृत—ये चार हिस्से रहते हैं। सब में सब रहते हैं परन्तु तारतम्य से। किसी में 'दधि' अधिक रहता है जैसे चावल। किसी में घृत अधिक रहता है—किसी में मधु अधिक रहता है। ये सारे रस—इस चन्द्रपरिभ्रमण-मण्डल से ही बरसते हैं, अतएव हम इस चन्द्रमण्डल को "रास-मण्डल" कहने के लिए तय्यार हैं। इसी रस से-चन्द्रमा के परिभ्रमण से—संसार के यच्चयावत् पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

नृत्य—दैव और मानुष भेदेन दो प्रकार का है। इसमें जो दैव नृत्य है—वह रास और ताण्डव भेदेन दो प्रकार का है। महर्षि तण्डु ने इस दूसरे नृत्य का आविष्कार किया था, अतएव वह 'ताण्डव' नृत्य कहलाया। स्त्री को साथ में ले कर जो नृत्य किया जाता है, उससे एक विशेष प्रकार का 'रस' उत्पन्न होता है, अतएव इसे 'रास' कहते हैं। आधिदैविक देवनृत्य को 'रास' कहते हैं एवं मानुष नृत्य को 'लास्य' कहते हैं। स्त्री के साथ होने वाला दैवी-नृत्य 'रास' कहलाता है—लौकिक नृत्य 'लास्य' कहलाता है। बिना स्त्री के जो दैवी नृत्य है—उसे 'ताण्डव नृत्य' कहते हैं। आकाशबिहारी कृष्णचन्द्र का नृत्य स्त्री के साथ होता है—राधा के साथ होता है—अतएव हम इस नृत्य को 'रास' कहने के लिए तय्यार हैं। यह रास परिक्रमा-भेद से तीन प्रकार का हो जाता है। चन्द्रमा का जो परिभ्रमण है—उसी का नाम 'रास' है। परिभ्रमण—पार्थिव, सौर, आयनिक भेदेन चूंकि तीन प्रकार है अतएव रास भी तीन ही प्रकार का हो जाता है।

---

१ तै०उप० २।७।१।

"तेनैषस्त्रिविधोमासः[1] संपद्यते । (मसी परिणामे धातोर्ण्वि प्रत्ययेन सान्तो मास शब्दश्चन्द्रं वक्ति) तस्यायं चन्द्रस्य भूमण्डलभोगोपलक्षितः कालो मासः । स त्रिविधः–पार्थिवः, सौरः, आयनिकश्च । तमेतमेव त्रिविधं मासमिहैतं रासमाख्यास्यामः । रसप्रवर्षणो मण्डलपरिभ्रमो रास इति सिद्धान्तः । तत्राऽयं रस आनन्दो, दधिमधुघृतामृताद्यन्नभावश्च । चन्द्रपरिभ्रमणेनैव सर्वेषां जगद्-भावानामुत्पत्तेः" ।

"अयन-रासः"

पूर्वोक्त तीनों रासों में से हम सर्वप्रथम 'अयन-रास' का ही स्वरूप बतलाते हैं ।

"तत्रायनिकस्तावदुच्यते" ।

जिस पृथिवी-पिण्ड पर हम बैठे हुए हैं, वह सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है । सूर्य्य के चारों ओर पृथिवी के घूमने का जो मार्ग है उसे 'क्रान्ति-वृत्त' कहते हैं । पृथिवी का जो सबसे बीच का पूर्वापरवृत्त है जिसे कि 'इक्वेटर' कहा जाता है, उसे 'विषुवद्' वृत्त कहा जाता है । छत पर खड़े हो जाइए और उत्तर-ध्रुव पर दृष्टि डालिए । इधर दक्षिण-ध्रुव पर दृष्टि डालिए । इन दोनों के ठीक बीच में पृथिवी का गोला तिरछे रूप से रहता है । इस गोले के बीच का उत्तर-ध्रुव से ९० अंश दक्षिण और दक्षिण ध्रुव से ९० अंश उत्तरस्थ जो कल्पित पूर्वापरवृत्त है उसी का नाम 'विषुवद्वृत्त' है । जिस प्रकार पृथिवी के पूर्वापरवृत्त का नाम 'विषुवद्' है तथैव सूर्य्य में भी 'विषुवद्' समझना चाहिए । जिस स्थान पर सूर्य्य का गोला दिखाई पड़ रहा है उस सूर्य्य के गोले के केन्द्र को काटते हुए ठीक उसके सीध में एक समधरातल वृत्त बनाओ । इसी वृत्त का नाम 'विषुवद्' किंवा 'विषुववृत्त' है । यदि पृथिवी सदा इस 'विषुवद्' रेखा पर ही घूमती तो दिन-रात सदा बराबर होते । १२ घण्टे की ही रात होती और १२ घण्टे का ही दिन होता । परन्तु ऐसा है नहीं । पृथिवी सूर्य्य से दक्षिण भाग में नीचे की ओर २४ अंश तक चली जाती है, एवमेव सूर्य्य से ऊपर भी २४ अंश तक चली जाती है । सूर्य्य से २४ अंश ऊँचा और २४ अंश नीचा–इस ४८ अंश का जो एक अण्डा-

---

१ तुलनीय–पं० मधुसूदन ओझा प्रणीत श्रीमद्भगवद्गीता–विज्ञानभाष्य के आचार्यकाण्ड से–पृष्ठ सं० २२७ ।

कार वृत्त है, उसी पर पृथिवी घूमती है; इसी का नाम क्रान्तिवृत्त है। यही कारण है कि दिन-रात बराबर नहीं होते। पृथिवी घूमते-घूमते जब 'सौर विषुव' पर आती है तो इस दिन दिन-रात बराबर होते हैं। ऐसा मौका वर्ष-भर में दो बार आता है। जहाँ पृथिवी विषुव पर आई नहीं कि दिन-रात बराबर हुए नहीं। अतएव कोशकार कहते हैं—

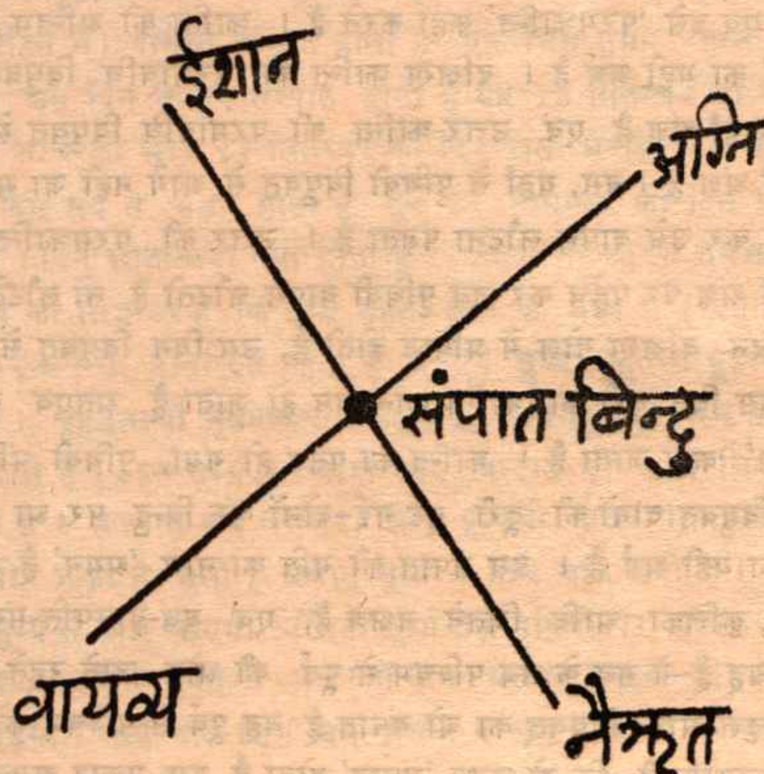
"समरात्रिन्दिवे काले विषुवद् विषुवं च तत्" ।।इति।।[1]

सूर्य्य के विषुवत् से जो दक्षिण-भाग है वह दक्षिण-गोल कहलाता है, उत्तर-भाग उत्तर-गोल कहलाता है। पृथिवी दक्षिण-गोल से जिस दिन उत्तर-गोल में प्रविष्ट होती है उस दिन दिन-रात बराबर होते हैं एवं जिस दिन उत्तर-गोल से दक्षिण-गोल में प्रविष्ट होती है उस दिन दिन-रात बराबर होते हैं। हमने जिस क्रान्ति-वृत्त का जिकर किया है, उसका और सौर विषुव का दो जगह संपात होता है अर्थात् विषुव रेखा से क्रान्ति-वृत्त का दो जगह क्रास होता है। बस, उसी का नाम 'अयन' है।

हमने बतलाया है कि सूर्य्य को बीच में रख कर जो खगोल में 'पूर्वा-परवृत्त' बनता है—उसका नाम सौर विषुवद्-वृत्त है। पृथिवी का जो विषुवद् वृत्त है, जो कि उत्तर-दक्षिण ध्रुव के ठीक बीच में है, उससे आकाश में एक सीधा लम्ब ले जाइए। बस, वहीं पर खगोल के विषुवद् की रेखा खींच दीजिए। पृथिवी-वृत्त का नाम भूगोल है। आकाश-वृत्त का नाम खगोल है। जैसी स्थिति भूगोल की है ठीक वैसी स्थिति खगोल की है। भूगोल में भी विषुवत् और क्रान्तिवृत्त है एवं उसी की सीध में खगोल में भी क्रान्ति-वृत्त और विषुवत् हैं। वस्तुतः खगोल और भूगोल—दोनों के जो विषुवत् और क्रान्तिवृत्त हैं वे कल्पित हैं। ग्रह-नक्षत्र-राशि आदि के विभाग के लिए, पृथिवी की गति के हिसाब के लिए, विषुवत् और क्रान्तिवृत्त की कल्पना की गई है। भूगोल के विषुवद्वृत्त को लीजिए अथवा खगोल के विषुवत् को। दोनों से क्रान्तिवृत्त २४ अंश दक्षिण है और चौबीस ही उत्तर है। विषुवत् से उत्तर २४ अंश पर क्रान्तिवृत्त है एवं दक्षिण में भी चौबीस अंश पर ही है। एक मनुष्य वायव्यकोण से अग्निकोण की ओर जा रहा है एवं एक नैऋतकोण से ईशानकोण की ओर जा रहा है। दोनों एक समय में एक

१ अमरकोश—कालवर्ग श्लोक सं० १४।

साथ चले हैं। दोनों का मार्ग नपा हुआ है—एकसार है। दोनों की गति समान है। ऐसी अवस्था में उन दोनों का अग्निकोण और वायव्य एवं नैऋत और ईशान के बीच में अवश्य ही मेल होगा। दोनों का क्रास होगा। बस, इसी क्रास का नाम 'संपात' है।



ठीक इसी प्रकार पृथिवी के विषुव और क्रान्ति में समझना चाहिए। पृथिवी का जो विषुव है उससे क्रान्तिवृत्त २४° उत्तर हटा हुआ है एवं २४° दक्षिण हटा हुआ है। इसके साथ दो जगह विषुवत् का क्रास होता है। विषुवत् से उत्तर-भाग का नाम उत्तर-गोल है एवं दक्षिण-भाग का नाम दक्षिण-गोल है। ६ महिने पृथिवी उत्तर-गोल में रहती है, ६ महिने दक्षिण-गोल में रहती है। दक्षिण-गोल को समाप्त कर जब पृथिवी उत्तर-गोल में जाती है तो उस दिन विषुव और क्रान्ति का क्रास होता है। उत्तर-गोल को पार कर जब दक्षिण-गोल में घुसती है तो उस दिन क्रान्तिवृत्त का क्रास होता है। इस प्रकार दो जगह क्रान्ति और विषुवत् कट जाते हैं। दोनों की जो दूरी है वह हट जाती है।

क्रान्ति शब्द का अर्थ है दूरी। क्रान्ति शब्द दूरी का वाचक है। जिस पर पृथिवी घूमती है वह वृत्त विषुवत् से दूर रहता है अतएव इस वृत्त को 'क्रान्ति-वृत्त' कहते हैं। इस दूरी की परमावधि उत्तर में २४ वाँ अंश है एवमेव दक्षिण में भी २४ वाँ ही अंश है। चूंकि यहाँ दूरी की परिसमाप्ति है, अतएव इसे 'परमक्रान्ति' कहा करते हैं। क्रान्ति की अन्तिम सीमा 'परम क्रान्ति' का यही अर्थ है। दक्षिण क्रान्ति की परमावधि विषुवत् से दक्षिण का २४ वाँ अंश है एवं उत्तर-क्रान्ति की परमावधि विषुवत् से उत्तर का २४ वाँ अंश है। बस, यहाँ से पृथिवी विषुवत् से आगे नहीं जा सकती। वहाँ पर जा कर उसे वापस लौटना पड़ता है। उत्तर की परमक्रान्ति पर अर्थात् २४ वें अंश पर पहुँच कर जब पृथिवी वापस लौटती है तो लौटते-लौटते वह जिस दिन दक्षिण गोल में प्रविष्ट होती है, उस दिन विषुवत् से मिल जाती है। इस दिन दूरी का-क्रान्ति का-पतन हो जाता है अतएव इस मेल को 'सम्पात' कहा जाता है। क्रान्ति का पतन हो गया, पृथिवी परिभ्रमण-वृत्त और विषुवत् दोनों की दूरी हट गई-दोनों एक बिन्दु पर आ गए-संपात शब्द का यही अर्थ है। इस संपात की गति का नाम 'अयन' है। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि जितने नक्षत्र हैं, एवं बुध-बृहस्पति-मंगल इत्यादि जितने ग्रह हैं-ये सब के सब पश्चिम से पूर्व की ओर जाते रहते हैं, परन्तु क्रान्ति-वृत्त और विषुवत् का जो संपात है वह पूर्व से पश्चिम को जाता है। हमने बतलाया है कि दो जगह 'संपात' होता है इस प्रकार अयन भी दो ही होते हैं। परन्तु गति में एक ही 'अयन' को ले लिया जाता है। एक संपात के अयन के साथ दूसरे सम्पात का अयन (गति) भी पकड़ में आ जाता है। इन दोनों सम्पातों का नाम-सम्पात-बिन्दु का नाम-'राहु' और 'केतु' रक्खा जाता है। यहाँ पर दोनों वृत्त कट जाते हैं, अतएव केतु का माथा कटा हुआ माना जाता है। एक सम्पात का नाम 'राहु' है, एक का नाम 'केतु' है। बस, ये ही दोनों पूर्व से पश्चिम को चलते हैं। अयन पूर्व से पश्चिम को चलता है, ग्रहादि पश्चिम से पूर्व को चलते हैं। जिस दिन चन्द्रमा इस अयन पर आता है तभी ग्रहण होता है। चूँकि 'अयन' को 'राहु' कहते हैं, अतएव 'राहु ने चन्द्रमा को ग्रस लिया' यह कहा जाता है। कहना यही है कि क्रान्तिवृत्त और विषुवत् के सम्पात की जो गति है-उसी का नाम 'अयन' है एव इन्हीं

दोनों सम्पात-बिन्दुओं को 'राहु-केतु' कहते हैं। दोनों सम्पात (१) शारद सम्पात और (२) वासन्त सम्पात नाम से प्रसिद्ध हैं। उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र के तृतीय चरण पर तो 'वसन्त सम्पात' होता है। जिस दिन सूर्य्य उत्तराभाद्रपद के तृतीय चरण पर आ जाता है उस दिन अर्थात् (२१ मार्च को चैत्र के महिने में) वासन्त सम्पात होता है एवं जिस समय 'हस्त' पर सूर्य्य आता है उस दिन 'शारद् सम्पात' होता है यह २७ सितम्बर को पड़ता है। बस, २१ मार्च को और २३ सितम्बर को दिन-रात बराबर होते हैं एवं २२ जून को दिन सब से बड़ा होता है एवं २२ दिसम्बर को दिन सब से छोटा होता है। दिन छोटा-बड़ा क्यों होता है? इसका भी कारण समझ लेना चाहिए। वेद का सिद्धान्त है कि सूर्य्य बृहती छन्द के बीच में (विषुवत् के बीच में) स्थिर रूप से प्रतिष्ठित रहता है अतएव **सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति** कहा जाता है। **बृहद्धतस्थौ भुवनेष्वन्तः** इत्यादि मन्त्र सूर्य्य के स्थिरत्व का प्रतिपादन करते हैं। इस सूर्य्य के चारों ओर चन्द्रमा को साथ लिए हुए पृथिवी घूमती है। कल्पना कर लीजिए, आज पृथिवी उत्तर परमक्रान्ति से दक्षिण की ओर झुकी है, घुसी है अर्थात् सूर्य्य से नीचे जाने लगी है। ज्यों-ज्यों पृथिवी सूर्य्य से नीचे जाएगी त्यों-त्यों सूर्य्य-तेज पृथिवी पर अधिक मात्रा से पड़ने लगेगा। हम विषुवत् से उत्तर में हैं। अतएव हमारी ओर इसका तेज अधिक पड़ेगा। जाते-जाते जिस दिन पृथिवी दक्षिण-गोल की परम क्रान्ति पर पहुँच जाती है, उस दिन सूर्य्य पृथिवी के माथे पर आ जाता है। अतएव पूर्णरूप से इस पर सौर-तेज आक्रान्त होता है। सूर्य्य का साक्षात् तेज इस पर आता है। इस दिन, दिन सबसे बड़ा होता है एवं रात्रि सब से छोटी होती है। पृथिवी का जो उत्तर-क्रान्ति से दक्षिण-भाग की ओर अर्थात् नीचे झुकना है, वह पृथिवी का 'दक्षिणायन' कहलाता है। परन्तु पृथिवी के नीचे झुकते ही सूर्य्य ऊँचा होने लगता है, अतएव पृथिवी का दक्षिणायन सूर्य्य का उत्तरायण कहलाता है। पृथिवी उत्तर की परमक्रान्ति पर २२ दिसम्बर पर पहुँचती है। इस दिन, दिन सबसे छोटा होता है एवं रात सबसे बड़ी होती है, क्यों कि पृथिवी सूर्य्य से एकदम ऊपर रहती है। हम चूँ कि विषुवत् से उत्तर में हैं, अतएव हमारे पर साक्षात् सौर-तेज नहीं आता अपितु तिरश्चीन किरणें आती हैं। उत्तर में सोम रहता है। सोम ठण्डा है। उसका उन दिनों

प्राबल्य रहता है एवं सूर्य्य का साक्षात् तेज वहाँ पर पहुँचता नहीं अतएव इस समय सर्दी लगा करती है । पृथिवी के नीचे झुकते ही सूर्य्य ऊँचा होने लगता है यही सूर्य्य का उत्तरायण काल है । पृथिवी का दक्षिणायन सूर्य्य का उत्तरायण है एवं पृथिवी का उत्तरायण सूर्य्य का दक्षिणायन है । जिस दिन पृथिवी का दक्षिणायन होता है, उस दिन सूर्य्य के नीचे रहने से दिन छोटा होता है, रात बड़ी होती है । यही सूर्य्य का उत्तरायण-काल है एवं जिस दिन पृथिवी का उत्तरायण होता है उस दिन सूर्य्य के ऊपर जाने से दिन बड़ा होने लगता है । यही सूर्य्य का दक्षिणायन-काल है । दक्षिण-गोल में परमक्रान्ति पर उत्तरायण होता है, उत्तर-गोल में परम क्रान्ति पर दक्षिणायन होता है ।

हमने बताया था कि पृथिवी सूर्य्य के चारों ओर घूमती है । सूर्य्य के चारों ओर तो घूमती ही है, परन्तु पृथिवी अपने अंश पर भी २४ घण्टों में घूम जाती है, इसी को स्वाक्षपरिभ्रमण कहते हैं । जैसे गाड़ी का पहिया अपने स्थान पर घूमता हुआ आगे चलता है एवमेव पृथिवी अपने स्थान पर घूमती हुई क्रान्ति-वृत्त के चारों ओर परिक्रमा लगाती है । इसी का नाम स्वाक्ष-परिभ्रमण है । इसी परिभ्रमण से दिन-रात होते हैं ।

पृथिवी के केन्द्र में से एक प्रकार का अग्नि निकलता है । यह अग्नि पृथिवी के केन्द्र से निकलता हुआ उत्तर की ओर सीधा उत्तरध्रुव की तरफ चला जाता है एवं दक्षिण की ओर सीधा दक्षिणध्रुव की ओर चला जाता है । इस अग्नि का डायमीटर ४८ अंशात्मक है । ४८° अंश के डायमीटर का जो पृथिवी-केन्द्र से निकलने वाला अग्नि-स्कम्भ है—उसी का नाम 'ब्रह्मा' है । प्रतिष्ठातत्त्व का नाम ब्रह्मा है । यह अग्निस्कम्भ जो कि—'चितेनिधे' कहलाता है—सदा एक रूप से प्रतिष्ठित रहता है, अतएव इसको 'ब्रह्मा' कहा जाता है । पृथिवी को 'पद्मपुराण' में 'पद्म' कहा है । इसी में ब्रह्मा प्रतिष्ठित रहते हैं-अतएव इन्हें 'पद्मभूः' कहा जाता है । इसी पार्थिव अग्नि से सारे पार्थिव-पदार्थों का निर्म्माण होता है । अग्नि मर्त्य-अमृत भेदेन दो प्रकार का है । अमृताग्नि निराकार है एवं मर्त्याग्नि साकार है । हम जो पृथिवी का गोल देख रहे हैं—वह मर्त्याग्नि-पिण्ड है—भूताग्नि पिण्ड है । इसका आलम्बन वही प्राणाग्नि है, जिसे कि अमृताग्नि कहा है । पृथिवी से बाहर बड़ी दूर जाने

वाला जो अमृताग्नि है–उसी के आधार पर यह पृथिवी-पिण्ड प्रतिष्ठित है। सारे पार्थिव-पदार्थों का निम्र्माण इसी 'अमृताग्नि' से होता है, अतएव इस अमृताग्नि को "संसार का स्रष्टा" बतलाया जाता है। **"भगवान् ब्रह्मा पद्म पर बैठे हुए सृष्टि बना रहे हैं"**–इस पौराणिक-आख्यान का यही रहस्य है। पार्थिवकेन्द्रस्थ अमृताग्नि का नाम ही प्रजापति है। वही सारे भुवन का अधिष्ठाता है। यदि सेंटर शक्ति निकल जाए–केन्द्रीय अमृताग्नि उच्छिन्न हो जाए और उसी समय पृथिवी के खण्ड-खण्ड हो जाएँ। इसी प्रजापति का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा" ॥[1]

पूर्वोक्त पार्थिवामृताग्नि ही प्रजापति शब्द से अभिप्रेत है। यह अग्नि सर्वथा स्थिर है। इसी का नाम 'अक्ष' है। इसको बीच में रख कर पृथिवी २४ घंटे में चारों ओर घूम जाती है। यह अग्नि पृथिवी का अपना अग्नि है, अपना अक्ष है। अतएव इस परिभ्रमण को "स्वाक्ष-परिभ्रमण" कहते हैं। इस स्वाक्षपरिभ्रमण का नाम–दैनंदिन गति है। कुम्हार के चाक पर दृष्टि डालिए। उस चाक का बिन्दु-बिन्दु चल रहा है, परन्तु जिसके चारों ओर चाक घूम रहा है–वह कीला बिल्कुल स्थिर है। बस, इसी प्रकार पृथिवी-पद्मभू ब्रह्मा सर्वथा स्थिर है एवं पृथिवी का बिन्दु-बिन्दु विचाली है। अक्ष के लफ्जी मायने हैं–'कील'। इसी ब्रह्माग्नि के चारों ओर पृथिवी घूमती है, अतएव इसे 'अक्ष' कहा जाता है। पृथिवी के केन्द्र से दोनों ओर निकलने वाला जो अग्नि का उत्तर-बिंन्दु है–उसका नाम है 'सुमेरु' एवं दक्षिण बिन्दु का नाम है–'कुमेरु'। पृथिवी का जो उत्तर-भाग है–उसके अन्त में जाने वाला जो पार्थिव अमृताग्नि-बिन्दु है–उसका नाम 'सुमेरु' है एवं दक्षिण-बिन्दु का नाम 'कुमेरु' है। उत्तर दिशा की ओर स्वर्ग-लोक है अतएव उधर के बिन्दु को 'सुमेरु' कह दिया जाता है एवं दक्षिण की ओर 'यम-लोक' है, अतएव उसे 'कुमेरु' कह दिया जाता है। मेरु को "मीढ-खूँटा-कीला" इन नामों से व्यवहृत

---

[1] यजुर्वेद ३१।१९।

किया जाता है। इसी ब्रह्माग्निकील पर चूँकि पृथिवी घूमती है, अतएव इसे 'मेरु' कहा जाता है। यह अग्नि सर्वथा स्थिर है–अविचाली है, अतएव इसे 'अचल' कहा जाता है। अचल पर्वत को भी कहा जाता है। अचल पर्वत को भी कहते हैं अतएव इसी भ्रम में पड़ कर पुराण व्याख्याकारों ने "सुमेरु नाम का कोई पर्वत हैं"--सुमेरु का यह अर्थ लगाया है। परन्तु उनकी यह नितान्त भ्रान्ति है। सुमेरु नाम का कोई पर्वत नहीं है। सुमेरु और कुमेरु तो कल्पित बिन्दु का नाम है जो कि सर्वथा अचल है। जिस प्रकार विषुवत् का लम्ब आकाश में ले जाया जाता है तथैव इस सुमेरु-बिन्दु से ठीक उत्तर जो एक लम्ब ले जाया जाता है, उसका जो अन्तिम बिन्दु है अर्थात् भूगोल के उत्तरबिन्दु की सीध में सुमेरु की सीध से जो खगोल बिन्दु है–उसी का नाम 'उत्तर-ध्रुव' है एवं दक्षिण खगोल बिन्दु का नाम 'दक्षिण-ध्रुव' है। यही अग्नि वहाँ तक चला गया है। यह अग्नि सर्वथा निराकार है जैसा कि पूर्व में बतला दिया गया है। भूगोल की उत्तर-दक्षिण अग्नि के निराकार कल्पित बिन्दु का नाम सुमेरु, कुमेरु है एवं खगोल के बिन्दु का नाम 'उत्तर-दक्षिण ध्रुव' है। चूँकि यह बिन्दु अचल है, अतएव उसे 'ध्रुव' कहा जाता है, सुमेरु कुमेरु को 'अचल' कहा जाता है। आप जो आकाश में उत्तर-ध्रुव नाम का नक्षत्र देख रहे हैं–उसका नाम उत्तर-ध्रुव नहीं है। उत्तर-ध्रुव तो निराकार बिन्दु का नाम है। उस बिन्दु को पहचानने के लिए बिन्दु के पास का जो नक्षत्र होता है–उसका नाम 'ध्रुव' रख दिया जाता है। यही बात दक्षिण-ध्रुव में भी समझनी चाहिए। उत्तर-ध्रुव से पृथिवीपिण्ड पर सीधा लम्ब खींचिए। पृथिवी का जो अन्तिम उत्तर बिन्दु है–उसी का नाम–'सुमेरु' है एवं दक्षिण-ध्रुव से ठीक सीधा लम्ब कीजिए–जो पृथिवी का अन्तिम दक्षिण-बिन्दु है–वही 'कुमेरु' है। इस सुमेरु से ९०° अंश दक्षिण एवं 'कुमेरु' से ९०° अंश दक्षिण जो पृथिवी का पूर्वापरवृत्त है–वही विषुवद्वृत्त कहलाता है। इसी प्रकार खगोल में उत्तरध्रुव से ठीक ९०° दक्षिण एवं दक्षिणध्रुव से ठीक ९०° अंश उत्तर 'विष्वद् वृत्त' है। जैसी स्थिति भूगोल की है–वैसी स्थिति खगोल की है। विष्वद् वृत्त से ९०° अंश पर उत्तर-ध्रुव है, ९०° अंश पर दक्षिण-ध्रुव है। अतएव 'विष्वद्वृत्तीय' पृथिवी-केन्द्र को 'ध्रुव' कहा जाता है। इस सुमेरु-बिन्दु से २४° अंश के अन्तर पर एक विष्णुस्थान कहलाता है, जिसे कि

'ब्रध्नस्यविष्टप' कहा जाता है। सुमेरु को हमने अचल बतलाया है, परन्तु यह पृथिवी की अपेक्षा से समझना चाहिए। वस्तुतस्तु जैसे पृथिवी चलती है, वैसे ही 'सुमेरु' भी चलता है। यह सुमेरु जिसे कि 'ध्रुव' कहेंगे–उस विष्णु के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। क्रान्तिवृत्त और विषुवत् की जो संपात गति है–उसे हमने 'अयन' कहा था। इसमें क्रान्तिवृत्त तो स्थिर रहता है एवं विषुवत् ही चलता है। यदि सूर्य्य को चल माना जाता है तो क्रान्ति-वृत्त की गति माननी पड़ती है। यदि पृथिवी को चल माना जाता है तो 'विषुवत्' की गति मानी जाती है क्यों कि विषुवद् पृथिवी की अपनी वस्तु है और यही सिद्धान्त-पक्ष है। क्यों कि विषुव इस मेरु से बद्ध है। इस विषुव की गति तब तक नहीं बन सकती जब तक कि मेरु को चल न मान लिया जाए। विषुव पीछे तभी हटेगा जब कि मेरु हटेगा, अतएव सुमेरु को भी चल ही मानना पड़ता है। सुमेरु सरकता है इसीलिए विषुवत् सरकता है। संपात पश्चिम की ओर हटता है। वह मेरु उस विष्णु की परिक्रमा लगाया करता है। इससे मेरु का सरकना उस उत्तर-ध्रुव से सम्बन्ध रखता है। उत्तर-ध्रुव से २४° अंश के व्यासार्द्ध पर एक वृत्त बनाओ–उसका जो ठीक केन्द्र-स्थान है–वहीं विष्णु रहते हैं। जैसे ध्रुव कल्पित बिन्दु है, तथैव विष्णु भी एक कल्पित बिन्दु ही है। सूर्य्य के २४° अंश उत्तर एवं २४° अंश दक्षिण में क्रान्तिवृत्त है। इस ४८° अंश के परिसर में अग्नि प्रज्वलित रहता है। इस वृत्त से–जैसे पृथिवी के केन्द्र में से ४८° अंश के परिसर का अग्नि दक्षिणोत्तर ध्रुव तक व्याप्त रहता है, तथैव सूर्य्य को केन्द्र में रख कर ४८° अंश के परिसर का एक अग्नि ऊपर तक जाता है। इसी का नाम 'स्कम्भ' है। पूर्व के प्रकरणों में बतलाया था कि पृथिवी का अग्नि २१ (इक्कीस) तक जाता है। २१ (इक्कीस) पर सूर्य्य है। इस पृथिवी का जो १७वाँ (सत्रहवाँ) अहर्गण है–वहाँ से (पच्चीस) तक का जो एक नवाह यज्ञ है,[1] उस नवाह यज्ञ का एक अग्निमय स्कम्भ सीधा उत्तर की ओर चला गया है। पृथिवी से सीधे चले जाइए। जाते-जाते जहाँ पर पृथिवी का १७वाँ (सत्रहवाँ) अहर्गण आए–वहाँ से २५वें (पच्चीसवें)

---

१ इसका स्वरूप स्व० शास्त्री जी कृत 'परमेष्ठीकृष्ण-रहस्य' में बतला दिया गया है।

तक एक अग्निस्कम्भ ऊँचा ले जाइए–इस अग्निस्कम्भ के ठीक अन्तिम बिन्दु का नाम ही 'विष्णु' है। इसी का नाम 'नाक' रक्खा जाता है। इस स्थान पर जिसका आत्मा चला जाता है–वह मुक्त हो जाता है। ध्रुव-स्वर्ग में जाने वाले की मुक्ति नहीं होती, परन्तु इस नाक (स्वर्ग) में जाने वाले की मुक्ति हो जाती है। जिस प्रकार दक्षिणोत्तरभेदेन ध्रुव दो हैं तथैव दक्षिणोत्तरभेदेन नाक भी दो ही हैं। इसी नाक को ज्योतिषीलोग 'कदम्ब' कहा करते हैं। जैसे विषुवत् से 'ध्रव' ६०° अंश पर है तथैव यह नाक क्रान्तिवृत्त से ६०° अंश पर है। इसीलिए क्रान्तिवृत्तीय पृष्ठि-केन्द्र को 'कदम्ब' कहा जाता है। इस कदम्ब और ध्रुव में २४° अंश का फासला रहता है क्यों कि क्रान्तिवृत्त और विषुवत् का अन्तर २४° ही है एवं इन्हीं के पृष्ठि केन्द्र का नाम 'ध्रुव और कदम्ब' है। यह कदम्ब ही विष्णु का परमपद कहलाता है एवं ध्रुव विष्णु-पद कहलाता है। उत्तराकाश में एक वासुकी सर्प है। उसके फण के बीच में यह कदम्ब स्थान है। आकाश में एक अभिजित् नाम का नक्षत्र दिखलाई पड़ता है एवं एक ध्रुव दिखलाई पड़ता है। इन दोनों में ४८° अंश का अन्तर है। बस, वह कदम्ब-बिन्दु इन दोनों के ठीक बीचों-बीच है। ध्रुव से २४° अंश के व्यासार्द्ध से एक वृत्त बनाइए–इसका जो ठीक केन्द्र स्थान है वहीं कदम्ब है। कदम्ब कोई नक्षत्र नहीं है अपितु, खाली बिन्दुमात्र है, अतएव श्रुति कहती है—

"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्" इति ॥[1]

जिस प्रकार कदम्ब की यह पहचान है तथैव ध्रुव की पहचान सप्तर्षि हैं। अति प्रसिद्ध जो सप्तर्षि हैं–उन से २४° अंश के व्यासार्द्ध से एक वृत्त बनाइए–ठीक इसके बीच में 'ध्रुव' है। सप्तर्षि से ध्रुव का पता लग सकता है, अतएव श्रुति कहती है—

"जज्ञानं सप्त मातरो वेधामशासत श्रिये। अयं ध्रुवो रयीणां चिकेत यत् ॥"[2]

---

१ ऋग्वेद मं० १।२२।२०। २ ऋग्वेद मं० ९।१०२।४।

जैसे उत्तर ध्रुव का ज्ञान सप्तर्षि से होता है–तथैव दक्षिण ध्रुव का ज्ञान 'अगस्त्य' से हो जाता है। अगस्त्य से २४° अंश के व्यासार्द्ध से एक वृत्त बनाइए, उसके बीच में दक्षिण ध्रुव है। ये दोनों ध्रुव उन दोनों कदम्बों की परिक्रमा लगाया करते हैं। यह परिक्रमा २५ हजार ६ सौ ४० वर्ष में पूरी होती है। कल्पना कर लीजिए कि आज अश्विनी नक्षत्र पर ध्रुव है, तो वह उसी अश्विनी नक्षत्र पर २५ हजार ६ सौ ४० वें वर्ष में आएगा। उसकी एक परिक्रमा इतने दिन में समाप्त होगी। चूँकि ध्रुव से विषुव बद्ध है, अतएव इसे भी चलना पड़ता है। बस, इस विषुव के चलने का नाम ही 'अयन' है। सुमेरु की विष्णु के परिक्रमा लगाना 'अयन की परिक्रमा' लगाना है। उस विष्णु के चारों ओर यह अयन २५ हजार ६ सौ ४० वर्ष में उस कदम्ब की परिक्रमा लगा लेता है। विषुव गति का नाम 'अयन' है। विषुव पृथिवी की वस्तु है। ऐसी अवस्था में अयन का परिक्रमा लगाना पृथिवी की ही परिक्रमा लगाना है। बस, इस प्रकार इस पृथिवी की तीन गतियाँ हो जाती हैं (१) दैनंदिन गति (२) सांवत्सरिक गति (३) आयनिक गति। ध्रुव को बीच में रख कर अक्ष की जो अहोरात्र गति है–स्वाक्षपरिभ्रमण है–वह तो 'दैनंदिन गति' है। इसमें ध्रुव (सुमेरु) ही स्थिर कील है। सूर्य्य को स्थिर मान कर ३६५ दिन की जो संवत्सर-गति है वही दूसरी 'सांवत्सरिक-गति' है एवं कदम्ब को स्थिर मान कर अयनसम्बन्धेन जो २५ हजार ६ सौ ४० वर्ष की महापरिक्रमा है वह 'आयनिक परिक्रमा' है। दैनंदिनगति में 'ध्रुव' खूंटा है। संवत्सरगति में 'सूर्य्य' खूँटा है, अयन गति में 'कदम्ब' खूँटा है।

पृथिवी के साथ चन्द्रमा बद्ध रहता है, अतएव उसकी भी तीन गतियाँ हो जाती हैं। पृथिवी को केन्द्र मान कर जो २७ (सत्ताईस) दिन की परिक्रमा है वह पहली परिक्रमा है। यह मासिक परिक्रमा है। यह परिक्रमा स्वतन्त्र है एवं पृथिवी चूँकि सूर्य्य के चारों तरफ घूमती है अतएव इसे भी सूर्य्य के चारों तरफ घूमना पड़ता है। यही इसकी दूसरी परिक्रमा है। पृथिवी कदम्ब के चारों ओर घूमती है अतएव इसे भी चारों ओर घूमना पड़ता है यही इसकी तीसरी गति है, परिक्रमा है। पहली का नाम पार्थिव गति है–इसमें अक्ष पृथिवी है। दूसरी गति का नाम सौर-गति है इसमें अक्ष सूर्य्य है। तीसरा परिभ्रमण आयनिक है इसमें अक्ष कदम्ब है। चन्द्रमा का नाम

विपरिणामी होने से 'मास' है, अतएव तीनों परिभ्रमण कालों को भी **'मासः-अयं'** से मास ही कह दिया जाता है । इन तीनों मासों में से हम सर्व-प्रथम 'आयनिक मास' का ही स्वरूप बतलाते हैं—

"तत्रायनिकस्तावदुच्यते" ।।

ये तीनों ही चान्द्रमास-दर्श और पूर्णमास भेदेन कृष्ण और शुक्ल दो भागों में विभक्त हो जाते हैं । चन्द्रमा के महिने में-अमा और पूर्णिमा-दो तिथियाँ प्रधान होती हैं । जिस दिन चन्द्रमा सूर्य्य के साथ आ जाता है, वह तिथि 'अमा' कहलाती है । पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा परिक्रमा लगाता है । लगाते-लगाते पृथिवी एक तरफ रह जाए और चन्द्रमा सूर्य्य से जा मिले (सीध में आ जाए) तो उस दिन घोर अन्धकार रहेगा एवं वह तिथि 'अमावस्या' कहलाएगी । जिस दिन चन्द्रमा सूर्य्य के (इन्द्र के) साथ रहता है अतएव इस तिथि को 'अमावास्या' कहा जाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः । स वै देवानां वस्वन्नं ह्येषाम् । तद्यदेष एतां रात्रिमिहामा वसति तस्माद-मावास्या नाम" ।[1]

अतएव कोशकार कहते हैं—**"दर्शः सूर्य्येन्दुसंगमः"**—इति ।[2]

जब चन्द्रमा सूर्य्य से ठीक सामने चला जाता है—पृथिवी के पृष्ठ-भाग में चला जाता है—इस दिन चन्द्रमा पर का सारा दृष्ट भाग प्रकाश से पूर्ण हो जाता है, अतएव इस तिथि को 'पूर्णिमा' कहा जाता है । बस, इस 'दर्श और पूर्णिमा' के भेद से चान्द्र-मास शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष इन दो भागों में विभक्त हो जाता है । अमा से पूर्णिमा तक शुक्लपक्ष है एवं पूर्णिमा से अमा तक कृष्ण-पक्ष है । चाहे पार्थिव मास हो, चाहे सौर हो, चाहे आयनिक हो, तीनों में दो-दो पक्ष रहेंगे एवं अमा-पूर्णिमा रहेगी ।

---

१ शत० ब्रा० १।६।४।५ । २ अमरकोश—कालवर्ग श्लोक सं० ९ ।

आजकल पूर्णिमा से मास का प्रारम्भ माना जाता है, परन्तु यह अशास्त्रीय है । शास्त्रीय मास अमा से माना जाता है । सारा धर्म्म-अमान्त मास पर अवलम्बित है न कि पूर्णिमान्त मास पर । पूर्णिमान्त वणिक् मास है अमान्त ब्राह्मण मास है । अमा से पूर्णिमा तक का जो शुक्लपक्ष है, वह 'पूर्वपक्ष' है एवं पूर्णिमा से अमा तक का अपर पक्ष है । शुक्लपक्ष पूर्वपक्ष है, कृष्णपक्ष अपर पक्ष है । अमा पर ही मास की समाप्ति होती है न कि पूर्णिमा पर, अतएव कोशकार कहते हैं–**पक्षौ पूर्वापरौ शुक्लकृष्णौ**[1] । कोशकार स्पष्ट ही शुक्ल को पूर्वपक्ष बतला रहे हैं एवं कृष्ण को अपरपक्ष बतला रहे हैं । अतएव प्रकृत में हम इसी से 'रास' का स्वरूप बतलाएँगे ।

हमने बतलाया है कि अयन परिभ्रमण के कारण चन्द्रमा का तीसरा मास '२५ हजार ९ सौ ४० वर्ष' का हो जाता है । वैदिक युग में जिस समय कि 'शतपथ ब्राह्मण' बना था यह अयन अर्थात् क्रान्तिवृत्त और विषुवत् का सम्पात भरणी के अन्त में था । भरणी के अन्त में 'वसन्त-सम्पात' था एवं विशाखा पर 'शारद सम्पात' था । भरणी के अन्त में अयन था । भरण्यन्त कहो चाहे कृत्तिकादि कहो–दोनों एक ही बात है । चूँकि यहाँ पर अयन था, अतएव उस समय इसी भरणी पर अमावास्या होती थी एवं इस भरणी के अन्त से ठीक सामने विशाखा के द्वितीय चरण पर शारद-सम्पात था । बस, इतना शुक्लपक्ष था । कृत्तिका से विशाखा तक शुक्लपक्ष था एवं विशाखा से भरणी तक कृष्णपक्ष था । भरणी के अन्त में अयन था, अतएव यहाँ पर जब चन्द्रमा आ जाता था तो–**दर्शः सूर्य्येन्दुसंगमः**[2]–के अनुसार इस दिन अमावस्या होती थी एवं जब चन्द्रमा सूर्य्य से ठीक सीधे विशाखा नक्षत्र पर आ जाता था तो पूर्णिमा होती थी । होती नहीं थी, आज भी होती है । भरणी को अमा मानना और विशाखा को पूर्णिमा मानना–यह कोई अनियत व्यवस्था नहीं है; इस व्यवस्था में अयन का कोई सम्बन्ध नहीं है । अयन चाहे कहीं भी रहे यह व्यवस्था आकल्पान्त यों ही रहेगी । कृत्तिका से बिशाखा तक देवमण्डल कहलाएगा एवं विशाखा से भरणी तक आसुर-मण्डल कहलाएगा । भरणी पर अमावास्या ही होगी–विशाखा पर पूर्णिमा ही होगी । कृत्तिका से ही यह देवासुर विभाग क्यों कायम किया गया ? इसमें तीन-चार कारण हैं ।

---

१ अमरकोश-कालवर्ग श्लोक सं० १३ । २ अमरकोश-कालवर्ग श्लोक सं० ९ ।

यद्यपि उन सब का विस्तृत विवेचन प्रकृत में नहीं किया जा सकता–तथापि सूक्ष्मरूपेण बतला देना आवश्यक है।

"खगोल में २७ (सत्ताईस) नक्षत्र हैं–१२ (बारह) राशियाँ हैं–९ (नौ) ग्रह हैं" इन तीनों का हमारे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम जिस नक्षत्र में–जिस राशि में–जिस ग्रह में उत्पन्न होंगे, हमारा आचार-व्यवहार-खान-पान सब उन-उन नक्षत्रादि के प्राणों के अनुसार ही होगा। यदि दैव नक्षत्र में पैदा होंगे तो सात्त्विक प्रकृति होगी एवं आसुर-नक्षत्र में पैदा होंगे तो क्रूर प्रकृति होगी। जन्म से ले कर मृत्यु पर्य्यन्त जन्म का नक्षत्र ही प्रधान रहेगा। उस पर यदि किसी क्रूर ग्रह का आक्रमण होगा तो उसका असर हम पर होगा। जिस प्रकार हमारे में ये नक्षत्र राशि आदि बँटे हुए हैं तथैव इस पृथिवी-पिण्ड में राशि आदि बँटे हुए हैं। २७ (सत्ताईस) नक्षत्र-१२ (बारह) राशि–९ (नौ) ग्रह इन सब को सारी पृथिवी-मण्डल में बाँट रक्खा है। सृष्टि के प्रारम्भ में जिस नक्षत्र की जिस भाग में सत्ता थी वहाँ का वही नक्षत्र स्वामी माना गया। उस समय भारतवर्ष कृत्तिका-नक्षत्र के नीचे था, अतएव कृत्तिका को ही भारतवर्ष का स्वामी मान लिया गया। एवमेव राशि और ग्रह-विभाग भी समझना चाहिए। जैसे मनुष्यों में महादशा-अन्तरदशा-प्रत्यन्तरदशा-सूक्ष्मान्तरदशा प्राणदायिनी दशाएँ होती हैं तथैव पृथिवी में भी यही क्रम समझना चाहिए। पृथिवी का प्रधान नक्षत्र कृत्तिका है परन्तु इसमें सारे अक्षों का असर पड़ता है। कृत्तिका नक्षत्र पर जिस देश के नक्षत्र का असर होगा उसका असर भारतवर्ष पर पड़ेगा। एवमेव ग्रहों के हिसाब से भारतवर्ष के भी ९ (नौ) टुकड़े कर दिए गए हैं। जयपुर से अर्बुदावली पर्य्यन्त मंगल का प्रदेश है। जहाँ-जहाँ धामनी मिट्टी है वह सब मंगल का प्रदेश है। यू.पी. बृहस्पति का प्रदेश है। मिथिला शुक्र का प्रदेश है। मारवाड़ शनि का प्रदेश है। यदि मंगल पर अन्य ग्रहों का आक्रमण होगा तो उस देश के राजा का आक्रमण भी इस मंगल वाले देश के राजा पर होगा। कहना प्रकृत में हमें यही है कि सृष्टि के प्रारम्भ में जिस ग्रह की–जिस नक्षत्र की–जिस देश पर सत्ता थी उसका वही नक्षत्र मान लिया गया था। इस क्रम में भारत का अधिष्ठाता कृत्तिका पड़ता था, अतएव भारतवर्ष के लिए यह कृत्तिका नक्षत्र सर्वथा नियत मान लिया गया।

इति प्रथमा–उपपत्तिः ॥१॥

अपिच–आकाश में जो विषुवत् है उससे कृत्तिका जितनी दूर हटा हुआ है वहीं से भारतवर्ष का प्रारम्भ होता है। सेतुबन्ध रामेश्वर से भारतवर्ष का प्रारम्भ है यहीं पर आजकल कृत्तिका है इसलिए भी कृत्तिका को प्रधान माना जाता है। कृत्तिका अग्निमय है, यही कृत्तिका भारतवर्ष का अधिष्ठाता है, अतएव यहाँ गरमी अधिक मात्रा से रहती है। भारतवर्ष इसी कृत्तिका की बदौलत ग्रीष्म-प्रधान देश है। कृत्तिका अग्निमय है, इसमें निम्नलिखित श्रुति ही प्रमाण है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"अग्निर्नः पातु कृत्तिकाः। नक्षत्रं देवमिन्द्रियम्।
इदमासां विचक्षणम्। हविरासं जुहोतन" इति ॥[1]

अपिच—

"यस्य भान्ति रश्मयो यस्य केतवः। यस्येमा विश्वा भुवनानि सर्वा। स कृत्तिकाभिरभिसंवसानः। अग्निर्नो देवः सुविते दधातु" ॥[2]

अपिच— **"एता वाऽअग्निनक्षत्रं यत् कृत्तिकाः" इति।**[3]

आजकल जिस जगह से भारतवर्ष प्रारम्भ होता है उसी जगह आज कृत्तिका है इसलिए हम कृत्तिका से ही नक्षत्र-गणना और राशि-गणना प्रारम्भ करते हैं ॥२॥

अपिच–अपना-अपना हिसाब लगाने के लिए भिन्न-भिन्न मध्य-रेखा मान ली जाती है। उत्तर-ध्रुव और दक्षिण-ध्रुव में प्रोत जो दक्षिणोत्तर-वृत्त हैं वे कुल ३६० हैं। सब एकसार हैं एवं ये सभी वृत्त **मध्याह्न-रेखा** नाम से प्रसिद्ध है। इन्हीं को **लाङ्गिच्यूड** कहा जाता है। एक गेंद को उठा लीजिए। उसके दोनों सिरों पर दो कील लगा दीजिए एवं डोरा ले कर उन दोनों कीलों से बराबर-बराबर बाँधते चले जाइए, सब समान परिमाण के होंगे। एवमेव दोनों ध्रुवों में प्रोत जो ३६० दक्षिणोत्तरवृत्त हैं–वे सब समान होते हैं। पूर्वापरवृत्त ही छोटे-बड़े होते हैं न कि याम्योत्तरवृत्त। भिन्न-भिन्न देशों ने इन ३६० में से अपने हिसाब के लिए भिन्न-भिन्न रेखा मान रक्खी

---

१ तै०ब्रा० ३।१।१।१। २ तै०ब्रा० ३।१।१।१। ३ शत०ब्रा० २।१।२।१।

है। ज्योतिर्विद् भास्कराचार्य उज्जैन में ही रहते थे, अतएव उन्होंने उसी को मध्य-रेखा कायम कर ली, जैसा कि ये अपने ग्रन्थ में लिखते हैं—

"यल्लङ्कोज्जयिनीपुरोपरिकुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत् ।
सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः" ।।[1]

बनारस को भी मध्य-रेखा मान सकते थे क्यों कि यहाँ पर भी मध्याह्नवृत्त मौजूद है, परन्तु आखिर कहीं तो मानते, अतएव हिसाब लगाने के लिए उज्जैन को मान रक्खा है। एवमेव नक्षत्र भी मान रक्खे हैं। भिन्न-भिन्न देशों के हिसाब के लिए भिन्न-भिन्न नक्षत्र मान रक्खे हैं। सत्ताईसों में से किसी न किसी को तो मानते ही। चूँकि कृत्तिका-अग्निमत्त्वात् भारतवर्ष के अनुकूल पड़ता था, अतः इसका यही नक्षत्र मान लिया गया है, अतएव हम कृत्तिका की राशि व्यवस्था को—नक्षत्र व्यवस्था को—आकल्पान्त के लिए स्थिर कहने के लिए तय्यार हैं ।।३।।

अपिच—एक चौथी बड़ी जबर्दस्त उपपत्ति है—जिसके कारण कृत्तिका से ही देव-मण्डल-विभाग मानना पड़ता है।

'ईश्वरकृष्ण-रहस्य' में बतलाया गया है कि सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठि-पिण्ड है। यहाँ पर जैसे पृथिवी मय चन्द्रमा के, सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है तथैव सूर्य्य, मय पृथिवी-चन्द्रमा के, इस परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। यह परिक्रमा अनन्तानन्त वर्षों में जा कर समाप्त होती है। जिस परमेष्ठी के चारों ओर सूर्य्य परिक्रमा लगाता है वह पारमेष्ठि-पिण्ड श्रमणा नक्षत्र के ऊपर है। पारमेष्ठ्य-रस इसी श्रमणा नक्षत्र में हो कर पृथिवी पर आता है। पारमेष्ठ्य वायु अप्सम्बन्धेन शान्त रहता है। यह वायु सर्वथा शान्त है, जीवन-प्रद है। इसी का नाम 'साम्ब सदाशिव' है। पृथिवी जब श्रवण पर जाती है तो इस द्वार से यह शिववायु पृथिवी-लोक में अधिक मात्रा से आता है। इसी जीवन-प्रद शिववायु को आत्मसात् करने के लिए श्रावण मास में शिव-प्रतिमा को प्रतीक बना कर इस वायु को उपासना द्वारा आत्मसात् किया जाता है। कहना हमें यही है कि सूर्य्य पृथिवी है, श्रमणा

---

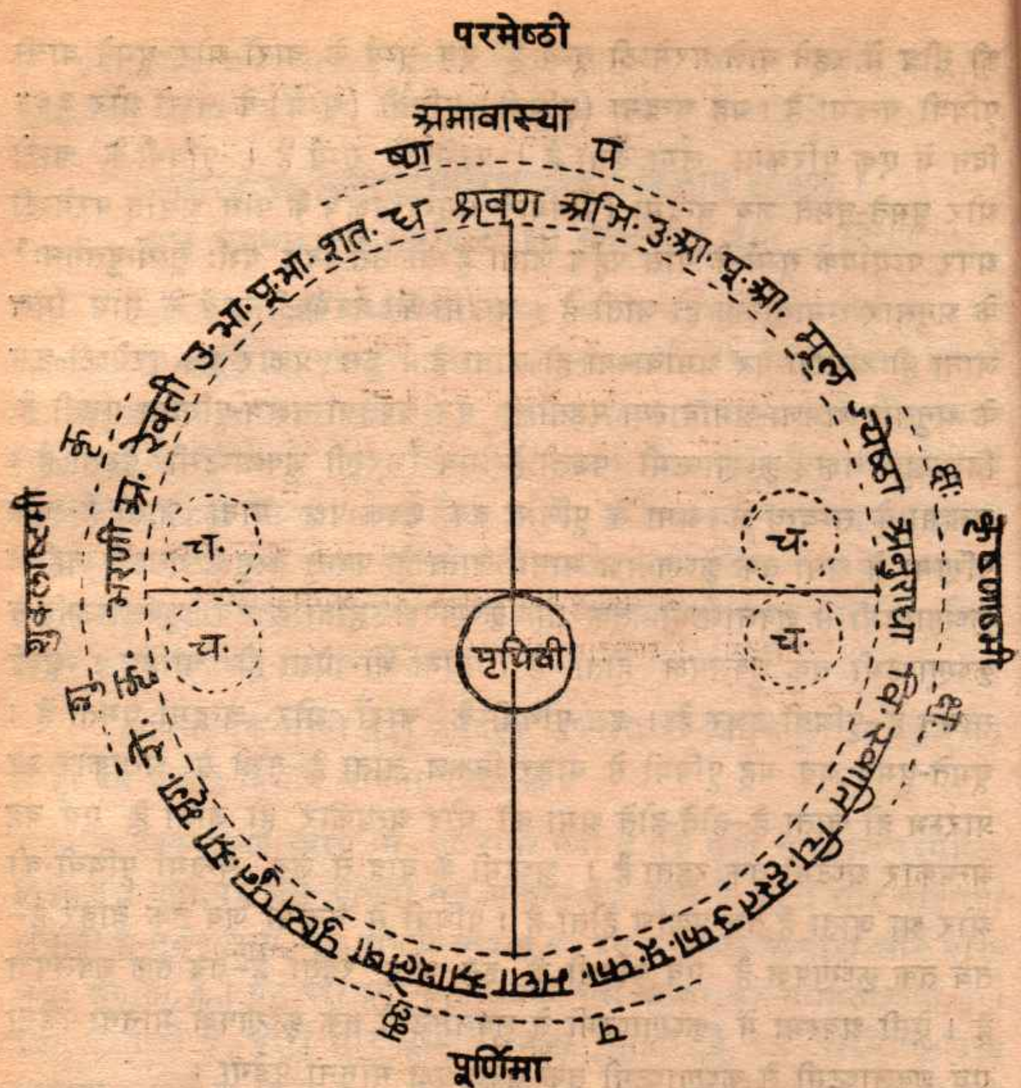
१ द्रष्टव्य पं० मधुसूदन ओझा प्रणीत 'इन्द्रविजय' लङ्काप्रसङ्ग, पृष्ठ सं० ६५, संस्करण सन् १९३०।

की सीध में रहने वाले परमेष्ठी सूर्य्य हैं एवं सूर्य्य के चारों ओर घूमने वाली पृथिवी चन्द्रमा है। यह चन्द्रमा (पृथिवी) पृथिवी (सूर्य्य) के चारों ओर ३६५ दिन में एक परिक्रमा लगा लेता है। परमेष्ठी सूर्य्य है। पृथिवी के चारों ओर घूमते-घूमते जब चन्द्रमा (पृथिवी) श्रमण नक्षत्र के पास अर्थात् परमेष्ठी अपर पर्य्यायक सूर्य्य के पास पहुँच जाता है तो उस दिन **दर्शः सूर्य्येन्दुसंगमः**[1] के अनुसार अमावास्या हो जाती है। चन्द्रमा का परमेष्ठी सूर्य्य के साथ मिल जाना ही श्रमण पर अमावास्या हो जाना है। इस प्रकार इस परमेष्ठी-क्रम के अनुसार श्रमणा-अमावास्या पड़ती है एवं अश्लेषा नक्षत्र-पूर्णिमा पड़ती है, विशाखा नक्षत्र-कृष्णाष्टमी पड़ती है एवं भरणी शुक्लाष्टमी पड़ती है। चन्द्रमा के सम्बन्ध से अमा से पूर्णिमा तक शुक्ल पक्ष माना जाता है एवं पूर्णिमा से अमा तक कृष्ण-पक्ष माना जाता है—परन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। कृष्णाष्टमी से शुक्लाष्टमी तक तो कृष्णपक्ष होता है एवं शुक्लाष्टमी से कृष्णाष्टमी तक शुक्लपक्ष होता है। होना भी ऐसा ही चाहिए। सूर्य्य सामने है—पृथिवी इधर है। इस पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा घूमता है। घूमते-घूमते जब यह पृथिवी से बाहर निकल जाता है--तभी से अन्धकार का प्रारम्भ हो जाता है—होते-होते अमा को घोर अन्धकार हो जाता है एवं वह अन्धकार अष्टमी तक रहता है। अष्टमी के बाद से जब चन्द्रमा पृथिवी की ओर आ जाता है तब प्रकाश होता है। पृथिवी से चन्द्रमा जब तक बाहर है—तब तक कृष्णपक्ष है एवं पृथिवी के इस ओर रहता है—तब तक शुक्लपक्ष है। ऐसी अवस्था में कृष्णाष्टमी से शुक्लाष्टमी तक कृष्णपक्ष मानना पड़ेगा एवं शुक्लाष्टमी से कृष्णाष्टमी तक शुक्ल-पक्ष मानना पड़ेगा।

इस प्रकार– 'दर्शः सूर्य्येन्दुसंगमः'[1] के अनुसार 'श्रवण' नक्षत्र पर अमावास्या मानी जाती है। चूंकि शुक्ल एवं कृष्णपक्ष-व्यवस्था अष्टमी से अष्टमी तक मानी जाती हैं, अतएव अनुराधा से भरणी तक तो कृष्णपक्ष हो जाता है एवं कृत्तिका से विशाखा तक शुक्लपक्ष हो जाता है। यद्यपि सूर्य्यपरिभ्रमण के कारण यह व्यवस्था भी सदा के लिए स्थिर नहीं है—तथापि—इसमें हजारों वर्षों तक अन्तर नहीं पड़ सकता अतएव इसे निश्चित मान लिया जाता है। कृष्णपक्ष में तमोमय प्राण रहता है—तमोमय प्राण का

---

१ अमरकोश—कालवर्ग श्लोक सं० ६।



नाम ही असुर है, अतएव अनुराधा से भरणी तक के नक्षत्र आसुर नक्षत्र माने जाते हैं एवं शुक्लप्राण का नाम देवता है–अतएव कृत्तिका से विशाखा तक के नक्षत्र 'देव-नक्षत्र' कहलाते हैं। अयन से देव-नक्षत्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। कृत्तिका से ही देव-नक्षत्र-गणना होती है, इसकी यही उपपत्ति है। पृथिवी श्रवण पर जाती है तो अमावास्या हो जाती है एवं शुक्लाष्टमी से शुक्लपक्ष-व्यवस्था होती है। इस क्रम में देवता-नक्षत्र-गणना में कृत्तिका ही से देव-नक्षत्र का प्रारम्भ होता है। बस, इन्हीं कारणों से देव-नक्षत्र-गणना सदा के लिए कृत्तिका से ही मानी जाती है।

परन्तु इतना और समझ लेना चाहिए कि कृष्णाष्टमी से शुक्लाष्टमी तक जो मास माना जाता है–वह परमेष्ठीसम्बन्धेन माना जाता है। हमारा जो चन्द्रमा है उसकी अपेक्षा से तो विशाखा ही पूर्णिमा पर पड़ेगी। परमेष्ठी के हिसाब से विशाखा कृष्णाष्टमी पर पड़ती है, परन्तु इस चन्द्रमा की अपेक्षा से विशाखा पूर्णिमा पर पड़ती है। चन्द्रमा जब विशाखा पर आता है तभी इस पर सूर्य्य का पूर्ण प्रकाश पड़ता है। अतएव 'वैहायसकृष्ण-रहस्य' में हम चन्द्रमा से सम्बन्ध रखने वाली पूर्णिमा का ही ग्रहण करेंगे। कृत्तिका से देवनक्षत्र-गणना मानी जाती है इस उपपत्ति में तो विशाखा कृष्णाष्टमी पर ही पड़ती है एवं रास-सम्बन्ध में विशाखा पूर्णिमा हो जाती है।

सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि कृत्तिका से ही 'देव-नक्षत्र-गणना' प्रारम्भ होती है। कृत्तिका से विशाखा तक का जो मण्डल है वह देव-मण्डल है, यही 'शुक्ल-पक्ष' कहलाता है। विशाखा से भरणी तक 'आसुर-मण्डल' है, यह कृष्ण-पक्ष कहलाता है। भरणी पर अमावास्या होती है क्यों कि 'अयन' की परिसमाप्ति यहीं पर होती है एवं विशाखा पर पूर्णिमा होती है।

आजकल जो 'राशि-विभाग' माना जाता है वह अश्विनी नक्षत्र से माना जाता है।

हमने बतलाया है कि अति पुरातन काल में जब कि वेदघन-सूर्य्य अपनी सहस्रों कलाओं से तप रहा था, कृत्तिका से विशाखान्त तक के नक्षत्र 'देव-नक्षत्र' माने जाते थे, अनुराधा से भरणी तक के 'आसुर' नक्षत्र माने जाते थे एवं मेष, वृष, मिथुनादि राशि की गणना कृत्तिका नक्षत्र से ही की जाती थी। माने जाते थे इसका अर्थ यह नहीं है कि आज वह व्यवस्था टूट गई हो। नहीं, आज भी कितने ही याज्ञिक-कर्म्मों में इसी व्यवस्था से काम लिया जाता है, कृष्णयजुर्वेदीय-कर्म्म-काण्ड की सारी व्यवस्था इसी व्यवस्था पर व्यवस्थित है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में कृत्तिका से ही नक्षत्र-गणना प्रारम्भ की गई है एवं प्रारम्भ के कृत्तिका-नक्षत्र को देव-नक्षत्र बतलाया गया है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"अग्निर्नः पातु कृत्तिकाः । नक्षत्रं देवमिन्द्रियम्" इति ।[1]

अपिच–एवमेव शतपथ ब्राह्मण में भी कृत्तिका से नक्षत्र-गणना प्रारम्भ की गई है । किस नक्षत्र में 'अग्न्याधान' करना चाहिए इसका निरूपण करते समय सबसे पहले—

'कृत्तिकास्वग्नीऽआदधीत । एता वाऽअग्निनक्षत्रं यत् कृत्तिकाः" ।[2]

इस प्रकार कृत्तिका का ही नाम लिया गया है । तैत्तिरीय-संहिता में तो एक जगह स्पष्ट ही कृत्तिका से विशाखा तक के नक्षत्रों को 'देव-नक्षत्र' बतलाया गया है एवं अनुराधा से भरणी तक के नक्षत्रों को 'आसुर-नक्षत्र' बतलाया गया है । जैसा कि श्रुति कहती है—

"देवनक्षत्राणि वा अन्यानि । यमनक्षत्राण्यन्यानि । कृत्तिकाः प्रथमम् । विशाखे उत्तमम् । तानि देवनक्षत्राणि । अनूराधाः प्रथमम् । अपभरणीरुत्तमम् । तानि यमनक्षत्राणि । यानि देवनक्षत्राणि । तानि दक्षिणेन परियन्ति । यानि यमनक्षत्राणि तान्युत्तरेण" । इति[3]

बतलाना यही है कि पूर्वोक्त देवासुर नक्षत्र-व्यवस्था सर्वथा नियत है । प्राचीन वैज्ञानिकों को किसी खास विज्ञान के आधार पर एक दूसरी व्यवस्था और कायम करनी पड़ी । आकाश में अदिति और दिति–ये दोनों स्थिर हैं । जैसे चारों स्वस्तिक सदा के लिए स्थिर हैं–एवमेव यह दिति और अदिति-बिन्दु कल्पान्त के लिए स्थिर हैं । इस अदिति-मण्डल में जो प्राण रहते हैं उन्हें आदित्य कहा जाता है एव दिति-मण्डल में जो प्राण रहते हैं उन्हें दैत्य किंवा असुर कहा जाता है । इस स्थिर अदिति-दिति का सम्बन्ध नक्षत्रों से है । एक सूर्य्यमूला दिति-अदिति और हुआ करती है, जिसका कि प्रकाश-अन्धकार के साथ सम्बन्ध है । उसके विषय में प्रकृत में हमें कुछ नहीं कहना । कहना है–नक्षत्रमूला अदिति के विषय में । नक्षत्रमूला दिति-अदिति सर्वथा स्थिर हैं । आकाश की ओर दृक्पात कीजिए । पुनर्वसू नाम के दो नक्षत्र

---

१ तै०ब्रा० ३।१।१ । २ शत०ब्रा० २।१।२।१ । ३ तै०ब्रा० १।५।२।६–७ ।

दिखलाई देंगे।[1] इस पुनर्वसू नक्षत्र के तृतीय-चरण पर यह अदिति-बिन्दु रहता है। इस अदिति-बिन्दु से ९०° अंश पूर्व और ९०° अंश पश्चिम–इतनी दूर का १८०° अंशात्मक जो आकाश-मण्डल है वह आदित्य-मण्डल कहलाता है। इतनी दूर में देव-प्राण भरा रहता है एवं इसके नीचे का जो आधा दिति-मण्डल है उसमें आसुर-प्राणसत्ता रहती है। पुनर्वसू से ठीक १८०° अंश पर मूल नक्षत्र है। इसी पर दिति-बिन्दु है। मूल का नक्षत्र निर्ऋति देवता माना जाता है। निर्ऋति दरिद्रता उत्पन्न करने वाला प्राण है, अतएव जिसका मूलनक्षत्र में जन्म होता है वह सदा दरिद्री रहता है एवं माता-पिता दोनों को नुकसान पहुँचाता है। इस दिति-बिन्दु से ९०° अंश पूर्व और ९०° अंश पश्चिम १८०° अंशात्मक-मण्डल दैत्य-मण्डल कहलाता है। इस क्रम में अश्विनी से स्वाती तक के नक्षत्र हो जाते हैं। विशाखा से रेवती तक आसुर-नक्षत्र हो जाते हैं। अश्विनी से स्वाती तक देवाकाश है, स्वाती से रेवती तक दैत्याकाश है। इसी व्यवस्था को बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। आददे (नार्य्यसि)" इति।।[2]

सविता (स्वाती) देवता के प्रसव में (आज्ञा में) अश्विनीकुमारों के एवं पूषा के हाथों से–हे अदिते! मैंने तुम्हारा ग्रहण किया है। हे अदिते! तुम नारी हो अर्थात् मारुती हो।

जिस समय पूषा (रेवती) का तारा डूब जाए अर्थात् पश्चिमक्षितिज से नीचे जा कर अस्त हो जाए एवं अश्विनी का तारा डूबने वाला हो, इन दोनों (पूषा और अश्विनी) से ठीक बीच से प्रारम्भ कर स्वाती नक्षत्र तक का (जो कि इस समय पूर्व क्षितिज पर उदित ही हुआ है) जो १८०° अंशात्मक आकाश-मण्डल है वह आदित्य-मण्डल कहलाता है। इसे ही दैव-मण्डल भी कहते हैं। इसी १८०° अंशात्मक-मण्डल के ठीक बीचों-बीच के स्वस्तिक पर जो पुनर्वसू नक्षत्र है उसके तृतीय-चरण पर अदिति-बिन्दु रहता है। इस

---

१ पुनर्वसू द्विवचने–वाङ्मयार्णवकोश, श्लोक सं० ३४३८।

२ यजुर्वेद १।२४।

प्रकार सिद्ध हो जाता है कि अश्विनी से स्वाती तक के नक्षत्र देव-नक्षत्र हैं एवं स्वाती से रेवती तक के आसुर-नक्षत्र हैं। जिस प्रकार कृत्तिका से प्रारम्भ होने वाली देवासुराकाश-व्यवस्था स्थिर है तथैव अश्विनी से प्रारम्भ होने वाली दैवाकाश-व्यवस्था भी स्थिर ही समझनी चाहिए। परमेष्ठि-मण्डल को सूर्य्य मान कर तो कृत्तिका की व्यवस्था स्थिर है एवं अदिति-बिन्दु की स्थिरता के आधार पर अश्विन्यादि व्यवस्था स्थिर है। याज्ञिक कर्म्मों में दोनों ही व्यवस्थाओं से काम लिया जाता है। अदिति-बिन्दु को पहचान कर ही यह अश्विन्यादिव्यवस्था कायम की गई एवं कृत्तिका की व्यवस्था को एक प्रकार से तोड़ना पड़ा। महर्षियों को जब अदिति-बिन्दु का पता लगा तो उन्होंने कृत्तिका की सार्वदेशिकता को भङ्ग किया एवं अश्विनी से भी दैव-व्यवस्था कायम की। बस, इसी विज्ञान को समझाने के लिए दक्ष प्रजापति के 'यज्ञ-विध्वंस' की सारी कथा की रचना की गई है। दक्ष-प्रजापति का मस्तक काट डाला गया एवं उस पर बकरे का माथा रख दिया—इससे यही ज्योतिष-विज्ञान बतलाया गया है। जब तक अश्विनी की व्यवस्था का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, तब तक मेषवृषादि-राशिक्रम कृत्तिका से ही प्रारम्भ होता था; परन्तु अदिति-बिन्दु के कारण भचक्र को कृत्तिका से तोड़ कर अश्विनी से प्रारम्भ करना पड़ा एवं तभी से राशि-गणना भी अश्विनी से ही की जाने लगी। इसी भचक्रपरिवर्तन-रहस्य को समझाने के लिए दक्ष-प्रजापति की कथा की रचना की गई। दक्ष-प्रजापति का रहस्य बतलाना प्रकृत से सर्वथा दूर हट जाना होगा, अतः अधिक न कह कर जरा सा निदर्शन मात्र करा प्रकृत का अनुसरण करते हैं।

सूर्य्य बृहती छन्द पर अर्थात् विष्वद्वृत्त पर स्थिररूप से तपा करता है, अतएव **सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति** यह कहा जाता है। सूर्य्य के चारों ओर बुध घूमता है। बुध के बाद शुक्र घूमता है। ये दोनों चूंकि सूर्य्य और पृथिवी के बीच में घूमते हैं, अतएव इन्हें अन्तर्ग्रह कहा जाता है। शुक्र के बाद पृथिवी घूमती है पृथिवी के बाद मंगल घूमता है। मंगल के बाद देवसेना घूमती है। देवसेना के बाद बृहस्पति घूमते हैं। बृहस्पति के बाद शनि घूमते हैं। शनि के बाद हार्शेल, नेपच्यून घूमते हैं। इन ग्रहों में—पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा घूमता है। **पृथिवी-परिभ्रमण-वृत्त** को **क्रान्तिवृत्त (आर्बिट)** कहा

जाता है, चन्द्र-परिभ्रमण-वृत्त को 'दक्ष' कहा जाता है। रासायनिक-प्रक्रिया में पदार्थों के जरा से आधिक्य एवं कमी के कारण जैसे पदार्थ-स्वरूप एकदम परिवर्त्तित हो जाता है तथैव दक्ष के विभागों के तारतम्य से एक ही दक्षवृत्त ६० तरह का हो जाता है। ये ही ६० विभाग इस दक्ष-प्रजापति की ६० लड़कियाँ कहलाती हैं जिनका कि विस्तृत विवेचन पूर्व के प्रकरणों में कर दिया गया है।

प्रकृत में हमें केवल इतना ही बतलाना है कि किसी समय राशिक्रम कृत्तिका से प्रारम्भ किया जाता था। चूँकि कृत्तिका से दक्ष-वृत्त का विभाग किया जाता था—कृत्तिका से नक्षत्र-गणना प्रारम्भ होती थी, अतएव कृत्तिका को दक्ष-प्रजापति का मस्तक बतलाया जाता था। परन्तु अदिति की स्थिरता के कारण कृत्तिका से भचक्र के प्रारम्भ को तोड़ कर अश्विनी से प्रारम्भ किया गया। बस, यही दक्ष प्रजापति का शिरश्छेद है। उसका मत्था कृत्तिका था-उसे तोड़ना ही दक्ष-मस्तकच्छेद है। पुराणों में लिखा रहता है कि दक्ष-प्रजापति का मस्तक काट कर उसके स्थान में बकरे का मस्तक जोड़ दिया। इसका तात्पर्य्य यही है कि पहले 'कृत्तिका-रोहिणी-मृगशिरापादमेकं मेषः'—यह विभाग माना जाता था, परन्तु अश्विनी से राशि प्रारम्भ होने पर 'अश्विनी-भरणी-कृत्तिकापादमेकं मेषः' यह माना जाने लगा। 'कृत्तिका के मस्तक-स्वरूप तीन चरणों के कटे हुए प्रजापति को मेष राशि में शामिल कर लिया गया'—बस, यही बकरे का मत्था जोड़ना है।

कहना इस प्रपञ्च से यही है कि कृत्तिकावत् अश्विनी से भी देव-व्यवस्था मानी जाती है। दोनों ही व्यवस्था स्थिर हैं। पहले कृत्तिका से राशि-क्रम प्रारम्भ होता था, आज अश्विनी से होता है। इसका मौलिक-रहस्य न समझ कर अपने को विज्ञान की पराकाष्ठा में पहुँचा हुआ समझने वाला पाश्चात्य-जगत् कहता है कि जब कृत्तिका पर क्रान्ति और विषुव का संपात था—तो वहाँ से राशि-क्रम माना जाता था एवं अश्विनी पर आ गया तो अश्विनी से माना गया, एवं आज उत्तरा भाद्रपद के तृतीय चरण पर है, अतएव आज इसी से राशि-विभाग माना जाता है। उनके हिसाब से राशि-व्यवस्था अयन से ताल्लुक रखती है। उनके हिसाब से निरयण कोई

वस्तु ही नहीं है । परन्तु हम यह कहते नहीं हिचक सकते कि उनका भारतीय निरयण-व्यवस्था को गलत बतलाना साहस मात्र है । यदि अयन से ही राशि-गणना का सम्बन्ध होता तो फिर राशि-गणना कभी भरणी से भी तो मानी जाती । एवमेव उत्तराभाद्रपद से पहले स्थित रेवती से भी तो राशि-गणना होती । क्यों कि कृत्तिका से भरणी पर अयन आएगा, बाद में अश्विनी पर आएगा, बाद में रेवती पर आएगा तब कहीं उत्तरा भाद्रपद पर आएगा । फिर क्या कारण है कि कृत्तिका और अश्विनी से ही राशि-विभाग माना जाता है । वेद में सिवाय कृत्तिका और अश्विनी के, अन्य नक्षत्र से दैवाकाश-व्यवस्था एवं राशि-व्यवस्था नहीं मिलती है । ऐसी अवस्था में अयन से राशि का सम्बन्ध मानना सर्वथा गलत है । राशि-गणना सृष्टि के अन्त तक अश्विनी से ही होगी । इसका अयन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । भारतीय ज्योतिष सायन-निरयण दोनों को मानता है । आज अयन अर्थात् क्रान्ति और विषुव-सम्पात उत्तराभाद्रपद के तृतीय चरण पर है । उत्तराभाद्रपद के और अश्विनी के बीच में रेवती नक्षत्र है । प्रत्येक नक्षत्र १३ अंश २० कला का होता हैं । प्रत्येक नक्षत्र के चार-चार चरण होते हैं । १३ अंश २० कला में से प्रत्येक चरण में ३-२० कला बढ जाती है । आज सम्पात अश्विनी से हट कर उत्तरा भाद्रपद के तृतीय चरण पर आ गया है । इसमें १३ अंश २० कला का तो रेवतीनक्षत्र पड़ता है । एवं २½ चरण उत्तरा भाद्रपद के हैं । दोनों के मिलाने से करीब २२ अंश हो जाते हैं । बस, आज यह सम्पात अश्विनी से २२ अंश पश्चिम हटा हुआ है । अश्विनी से जो व्यवस्था की जाती है, वह निरयण व्यवस्था कहलाती है । क्यों कि यहाँ पर अयन नहीं है एवं उत्तराभाद्रपद से जो व्यवस्था की जाती है वह सायन-व्यवस्था कहलाती है । यज्ञोपवीत, विवाह, चूड़ाकरण, एकादशीव्रत इत्यादि जितने भी धार्मिक कार्य्य हैं—उन सब का निरयण राशि से नित्य व्यवस्था से सम्बन्ध है एवं ऋतुपरिवर्त्तनादिव्यवस्था सायन पर व्यवस्थित है । भारतीय ज्योतिष जिस दिन 'मकर-संक्रान्ति' मानता है, सायनवादियों के मतानुसार मकर-संक्रान्ति हमारी मकर-सक्रान्ति से २२ दिन के बाद में आती है ।

सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि अश्विनी और कृत्तिका की व्यवस्था सदा के लिए व्यवस्थित है । इसका अयन से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

अयन चाहे कहीं रहे देवाकाशव्यवस्था कृत्तिका और अश्विनी से ही मानी जाएगी एवं धार्म्मिक स्मार्त्तकर्म्मों में अश्विनी से एवं श्रौत कर्म्मों में अश्विनी और कृत्तिका से ही राशि-गणना मानी जाएगी। यह व्यवस्था सदा के लिए अटल है। प्रकृत में हमें रास बतलाना है। इस रास का सम्बन्ध कृत्तिका-व्यवस्था से समझना चाहिए। अतएव आयनिक, सांवत्सरिक एवं मासिक तीनों रासों में वैदिक-युग में की गई कृत्तिका-व्यवस्था का ही आलम्बन ग्रहण किया जाएगा।

रहस्य के प्रारम्भ में ही हमने बतलाया है कि चन्द्रमा प्रतिक्षण बदलता रहता है, अतएव इसे 'मास' कहा जाता है। इस चन्द्रमा का जो परिभ्रमण-काल है, वह भी 'मास' सम्बन्धेन मास ही कहलाता है चाहे वह आयनिक हो—चाहे सांवत्सरिक हो—चाहे मासिक हो। तीनों **मास** ही कहलाएँगे। ये तीनों ही चान्द्र मास 'दर्श' और 'पूर्णिमा' भेदेन पूर्वपक्ष और अपरपक्ष—इन दो भागों में विभक्त हो जाते हैं। चन्द्रमा घूमते-घूमते जिस दिन सूर्य्य से मिलता है उस तिथि को 'दर्श' कहते हैं एवं चन्द्रमा जब सूर्य्य से एकदम बरअक्स (पृष्ठभाग में) चला जाता है—चन्द्रमा और सूर्य्य के बीच में पृथिवी आ जाती है, उस तिथि को **पूर्णिमा** कहा जाता है। हमने बतलाया है कि चन्द्रमा की आयनिक परिक्रमा २५ हजार ९ सौ ४० दिन में पूरी होती है। आयनिक मास इतना बड़ा है। इस आयनिक मास के दर्श और पूर्णिमा भेदेन दो विभाग कर डालिए। आधा विभाग शुक्लपक्ष कहलाएगा और आधा कृष्णपक्ष कहलाएगा। जिस समय शतपथ-ब्राह्मण बना था, उस समय भरणी के अन्त में 'क्रान्ति और विषुव' का सम्पात था। कृत्तिकादि कहो अथवा भरण्यन्त कहो—एक ही बात है। 'भरणी के अन्त में अयन था' यह भी कहा जा सकता है एवं 'कृत्तिकादिकादि में अयन था' यह भी कहा जा सकता है। शतपथ के समय यहीं अयन था, अतएव शतपथ श्रुति कहती है—

"कृत्तिकास्वग्नी आदधीत। एता वा अग्निनक्षत्रं यत् कृत्तिकाः। एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते" ॥[1]

---

१ शत० ब्रा० २।१।२।१-३।

ये नक्षत्र प्राची दिक् को अर्थात् विषुवत् को कभी नहीं छोड़ते हैं। परन्तु आज हम देखते हैं कि कृत्तिका विषुवत् से हटा हुआ है। कहना इससे हमें यही है कि वहीं अर्थात् भरणी के अन्त में अयन था अतएव वहाँ अमावास्या होती थी एवं भरणी के अन्त से अर्थात् कृत्तिका से आधे विशाखा में अर्थात् विशाखा के द्वितीय चरणान्त तक (कृत्तिका से विशाखा के पूर्व अर्द्ध-भाग तक) शुक्ल-पक्ष था एवं विशाखा के उत्तर अर्द्ध-भाग से भरणी तक कृष्ण-पक्ष था, था ही नहीं अपितु आज भी है एवं आकल्पान्त रहेगा; राधापर नाम के विशाखा नक्षत्र को मन्त्र-श्रुति 'पौर्णमासी' बतलाती है। यह बात तभी बन सकती है जब कि भरणी को अमावास्या माना जाए, क्यों कि विशाखा कृत्तिका से ठीक सामने पड़ती है, एवं उसे पूर्णिमा माना गया है। इससे सिद्ध हो जाता है कि भरणी पर अमा होती है। हमने बतलाया था कि शारद् और वासन्त भेदेन अयन दो प्रकार का माना जाता है। चन्द्रमा जब सूर्य्य के पास आ जाता है, तो उस दिन अमा होती है। विशाखा को पूर्णिमा माना गया है, अतएव मानना पड़ता है कि भरण्यन्त में ही अयन था एवं उस पर अमावास्या थी अन्यथा विशाखा पूर्णिमा हो ही नहीं सकती। इससे बतलाना हमें यही है कि कृत्तिका से विशाखा तक शुक्लपक्ष है एवं विशाखा से भरणी तक कृष्णपक्ष है। कृत्तिका से मास प्रारम्भ होता है, भरणी पर समाप्त होता है। भरणी अमावास्या है–विशाखा पूर्णिमा है। इसमें निम्नलिखित मन्त्र-श्रुति ही प्रमाण है—

"पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय।
तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम"॥[1]

विशाखा-तिथि को पूर्णिमा तिथि बतलाई जाती है। वास्तव में यह पूर्णिमा ही है–क्यों कि जब चन्द्रमा इस पर आता है तो इस पर सूर्य्य का पूर्ण प्रकाश पड़ता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"तत्रायनिकस्तावदुच्यते। एष खलु चन्द्रमसो मासो दर्शपूर्णमासिकत्वात् पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यां द्वेधा विभज्यते। तत्र पुरा दैवतयुगे भरण्यन्ते तावदयन-

---

१ अथर्ववेद ७।७।८०।

सत्वाद्-तत्र दर्शः । ततो विशाखाद्धान्ते यावदयनप्रवेशः-तावदयं पूर्वपक्षः शुक्लपक्षः । 'पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय' इति ब्राह्मणश्रुत्या-राधापरनाम्न्या विशाखायाः पौर्णमासीत्वेन श्रूयमाणत्वात्" ।

विशाखा को पूर्णिमा मान लेने से ही भरणी की दर्शता सिद्ध हो जाती है, तथापि-'लक्षणैकचक्षुष्क' इस पर विश्वास नहीं कर सकते । उन्हें जब तक प्रमाण नहीं बतलाया जाता, तब तक वे विश्वास नहीं करते । अतएव उनकी शान्ति के लिए हम इसमें भी प्रमाण बतला देते हैं ।

'विशाखा से भरणी के अन्त तक कृष्णपक्ष है एवं भरणी अमावास्या है'-इसका निर्णय तैत्तिरीय ब्राह्मण के तीसरे काण्ड के प्रथमाध्याय के श्रुति-पाठ से हो जाता है ।

आजकल पूर्णिमान्त मास माना जाता है परन्तु यह व्यवहार अशास्त्रीय है । शास्त्रीय मास अमान्त है । अमा से अमा तक मास माना जाता है । शुक्लपक्ष पूर्वपक्ष है, कृष्णपक्ष अपरपक्ष है । कृत्तिका से पक्ष प्रारम्भ होता है भरणी में पक्ष (उभय-पक्ष) का अवसान होता है । सारे नक्षत्र-मण्डल का अवसान भी भरणी के अन्त में ही होता है एवं पक्षावसान भी इसी भरणी में ही होता है । अतएव इस भरणी को 'यमदैवत्य' कहा जाता है । भिन्न-भिन्न नक्षत्रों के भिन्न-भिन्न देवता हुआ करते हैं । उनमें से भरणी के यम-देवता बतलाए जाते हैं । इसका कारण यही है कि हमारी अपेक्षा से भरणी पर ही तो पक्षावसान होता है एवं भरणी पर ही मण्डलावसान होता है । अवसान के अधिष्ठाता 'यम-राज' हैं । किसी भी वस्तु का जो खात्मा होता है उसके अधिष्ठाता 'यम' हैं । यम रोदसी का प्राणमय वायु है । यह वायु १४ (चौदह) प्रकार का है । यही १४ (चौदह) यम कहलाते हैं । हम में 'ब्राह्मणस्पत्य' का 'शिव-वायु' आता रहता है । जब तक इसका सम्बन्ध बना रहता है तब तक अध्यात्म-यज्ञ बना रहता है । यदि यम-वायु बीच में घुस कर उस शिव-वायु सूत्र को तोड़ डालते हैं तो अध्यात्म-यज्ञ का अवसान हो जाता है । अतएव यम को अवसान का देवता कहा जाता है । जैसा कि श्रुति कहती है—

"अदाद् यमोऽवसानं पृथिव्याः। यमो ह वाऽअस्या अवसानस्येष्टे"।[1]

श्रुति कहती है पृथिवी को अवसान देने वाला यम ही है। पृथिवीलोक का आखिरी छोर करने वाला यही यमराजा है। यम ही अवसान का ईश है, स्वामी है। चूँकि भरणी पर पक्ष और मण्डल दोनों का अवसान होता है अतएव इसे 'यम दैवत्य' बतलाया जाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"अप पाप्मानं भरणीर्भरन्तु। तद्यमो राजा भगवान्विचष्टाम्।
लोकस्य राजा महतो महान्हि। सुगं न पन्थामभयं कृणोतु" ॥इति[2]

"यस्मिन्नक्षत्रे यम एति राजा। यस्मिन्नेनमभ्यषिञ्चन्त देवाः।
तदस्य चित्रं हविषा यजाम अप पाप्मानं भरणीर्भरन्तु"॥ इति[3]

इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

"अथ भरण्यन्तोऽपरपक्षः कृष्णपक्षो भरण्या आमावास्यात्वेन तैत्तिरीय ब्राह्मणतृतीयकाण्डीयप्रथमाध्यायश्रुत्या (३।१) निर्द्धारितत्वात्। भरण्यां पक्षावसानं, मण्डलावसानं च भवतीति कृत्वा भरण्या यमदैवत्यत्वमाख्यायते॥–'अदाद् यमोऽवसानं पृथिव्याः'–'यमो ह वा अस्या अवसानस्येष्टे।' इति शत०ब्रा० श्रुत्या यमस्यावसानदेवतात्वात्" ॥

आज 'उत्तराभाद्रपद' के तृतीय चरण पर वसन्त संपात है। वह इस आयनिक-मास का तिथि-काल समझना चाहिए। तात्पर्य्य यही है कि चन्द्रमा की यह आयनिक-परिक्रमा २५ हजार ९ सौ ४० वर्ष में पूरी होती है। आयनिक परिक्रमा में–इतने दिन में–चन्द्रमा २७ (सत्ताईस) नक्षत्रों का भोग करता है। चन्द्रमा का जो भोग-काल है उसी का नाम एक तिथि है। कल्पना कर लीजिए–आज चन्द्रमा और सूर्य्य अश्विनी नक्षत्र से चले हैं। चन्द्रमा १३-२० कला चला एवं सूर्य्य एक अंश ही चला। इसमें एक अंश तो सूर्य्यगति में

---

१ शत०ब्रा० ७।१।१।३। २ तै०ब्रा० ३।१।२।११।
३ तै०ब्रा० ३।१।२।११।

चला गया बाकी बचे १२-२० कला। बस, सूर्य्य के एक अंश में जितनी देर चन्द्रमा का स्थिति-काल है उसी को 'तिथि' कहते हैं। निरुक्तक्रमानुसार स्थिति ही 'तिथि' में परिणत हो गया है। यह तिथिक्रम अमोत्तर प्रतिपत् से प्रारम्भ होता है। क्यों कि चन्द्रमा सूर्य्य से अमा को ही सम्मिलित होता है। कहना यही है कि सूर्य्य-चन्द्र का जो अन्तर है, सूर्यांश में जो चन्द्रस्थिति-काल है उसी का नाम 'तिथि' है। जैसे ३० दिन की मासिक-परिक्रमा में एक-एक दिन की एक-एक तिथि हो जाती है, तथैव २५९४०-वर्ष की महा-परिक्रमा में एक-एक तिथि (८६४ वर्ष २० दिन) इतने वर्ष की होगी। तात्पर्य्य यही है कि मासिक मासवत्-आयनिक-मास के जो कि २५९४० वर्ष का है, ३० टुकड़े कर डालिए–ये ही इसकी तिथियाँ कहलाएँगी। भरणी अमावास्या है, विशाखा पूर्णिमा है। आज उत्तराभाद्रपद पर वसन्त-सम्पात है। समझ लीजिए यह इस मास की (आयनिक-मास की) तृतीया या चतुर्थी तिथि है। होते-होते जब अयन विशाखा पर पहुँचेगा तो समझ लीजिए यह तिथि पूर्णिमा पड़ेगी। अतएव वेद में इस विशाखा को पूर्णिमा तिथि कहा जाता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जिस दिन कृत्तिका में अयन था, उस दिन विशाखा पूर्णिमा तिथि थी, क्यों कि कृत्तिका पर जिस दिन सूर्य्य रहता है, उस दिन विशाखा पर चन्द्रमा रहता है एवं इस पर सूर्य्य का पूर्ण-प्रकाश पड़ता है। इस दिन राधा पूर्ण हो जाती है अतएव जिस काल में कृत्तिका पर अयन था उस काल में वैदिक विज्ञान का पूर्णतया भारतवर्ष में प्रचार था। इस समय भारतवर्ष में याज्ञवल्क्य जैसे महाधुरन्धर वैदिक इस भारतवर्ष में मौजूद थे। अस्तु, कहना यही है कि कृत्तिका से विशाखा तक शुक्ल-पक्ष है एवं विशाखा से भरणी तक कृष्ण-पक्ष है। भरणी अमावास्या है, विशाखा पूर्णिमा है। यह विशाखा इन्द्राग्नीदेवताकतया 'राधा' कहलाती है। विशाखा का दूसरा नाम 'राधा' है। इसीलिए विशाखा नक्षत्र के आगे के नक्षत्र को 'अनुराधा' कहा जाता है। उसका 'अनुराधा' नाम तभी संगत होता है, जब कि इस विशाखा का नाम 'राधा' मान लिया जाए, अतएव कोशकार कहते हैं—**"राधा विशाखा पुष्ये तु" इत्यादि।**[1]

---

१ अमरकोश–प्रथमकाण्ड–श्लोक सं० २२।

इस राधा के साथ—जो 'रास-मण्डल' में ही कृष्णचन्द्र से मिलती है—रास होता रहता है। आयनिकपरिक्रमा लगाते हुए राधा के साथ रास करते हुए 'वैहायस-कृष्ण' रस बरसाया करते हैं। इनका यह रास २५६४० वर्ष में पूरा होता है, अतएव हम इसे 'परम-रास' कहने के लिए तय्यार हैं। मास का यह मण्डल-परिभ्रमण है—इससे रस बरसता है—अतएव इसे हम 'रास' कहने के लिए तय्यार हैं। यदि 'कृष्णचन्द्र' रास न करते—चारों ओर न घूमते तो हमारे पास कुछ भी रस न आता। हमारे पास कभी मधु आता है—कभी घृत आता है—कभी कुछ रस आता है—यह सब इसी 'रास' की महिमा है।

सारे कथन का निष्कर्ष यही हुआ कि ध्रुव २४ अंश को व्यासार्द्ध से एक वृत्त बना कर क्रान्तिवृत्तीय पृष्ठिकेन्द्र कदम्ब के चारों ओर २५६४० वर्ष में एक परिक्रमा लगा लेता है। विषुवद्-वृत्त ध्रुव से बद्ध है। जब ध्रुव परिक्रमा लगाता है तो विषुवद् को भी परिक्रमा लगानी पड़ती है। विषुवत् और क्रान्ति का जो मेल है, उसका नाम सम्पात है। इस सम्पात की जो गति है उसे अयन कहते हैं। विषुवत् का चलना सम्पात का चलना है। अतएव हम कह सकते हैं कि अयन भी उस कदम्ब के—विष्णुविष्टप के—चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। अयन विषुवत् से सम्बन्ध रखता है। विषुवत् पृथिवी की वस्तु है, पृथिवी से बद्ध है, अतएव पृथिवी परिक्रमा करती है यह भी कहा जा सकता है। पृथिवी से चन्द्रमा बद्ध रहता है, अतएव चन्द्रमा का परिभ्रमण भी सुतरां सिद्ध हो जाता है। बस, पृथिवी के साथ से अर्थात् अयन के परिभ्रमण से चन्द्रमा भी कदम्ब के चारों ओर परिक्रमा लगा लेता है। चन्द्रमा हरनक्ष बदलता रहता है, अतएव इसका नाम है—मास। चन्द्रमा का जो परिभ्रमण-मण्डल है, उसी से दधि, मधु, घृतादि की वृष्टि होती है। यही परिभ्रमण रसवर्षण करता है, अतएव हम इस परिभ्रमण को रसप्रवर्षणात् 'रास' कहने के लिए तय्यार हैं। यद्यपि 'रास' होता है गोपियों के साथ भी तथापि प्रधान राधा ही है। चन्द्रमा जब राधा से युक्त होता है, विशाखा से संयुक्त होता है—तभी पूर्ण कहलाता है। बस, पहला यही 'रास' है जिसे कि हम 'आयनिक रास' कहेंगे।

"यस्त्विदानीमुत्तरभाद्रपदे वसन्तसंपातः सोऽयमस्य तिथिकालः स्यात्। तथा चैव कृत्तिकाद्ययनकाल एवाऽयं विशाखापूर्णिमाकालः। तत्र च राधायाः

पूर्णत्वात् वेदविज्ञानघनः पृथिव्यां प्रचरतिस्मेति गम्यते । एष तावन्महामण्डल-परिभ्रमः परमो रास इत्येकः ।।१।।

इत्यायनिकरासः प्रथमः ।।१।।

२–संवत्सररासः

जैसे पृथिवी (अयन) कदम्ब के चारों ओर परिक्रमा लगाती है तथैव सूर्य्य के चारों ओर भी परिक्रमा लगाती है । यह परिक्रमा ३६५ दिन में समाप्त होती है । पृथिवी एकल्ली (अकेली) नहीं घूमती अपितु चन्द्रमा को साथ लिए घूमती है, अतएव श्रुति कहती है—

'सोमः पूषा च चेतर्त्तुविश्वासां सुक्षितीनाम् । देवत्रा रथ्योर्हिता–इति" ।।[1]

सोम अर्थात् चन्द्रमा एवं पूषा अर्थात् पृथिवी सारे विश्व की निगरानी करते हुए दैवी-रथ पर सवार हो कर परिक्रमा लगाते रहते हैं । श्रुति का यही तात्पर्य्य है । कहना इससे हमें यही है कि जैसे पृथिवी सूर्य्य के चारों ओर घूमती है एवमेव चन्द्रमा भी सूर्य्य के चारों ओर घूमता है । इसकी एक सौर संवत्सर-परिक्रमा ३५४ दिन में समाप्त हो जाती है । बस, यह इस मास का दूसरा मास है अर्थात् चन्द्रमा का दूसरा परिभ्रमण-काल है । जैसे महा-परिभ्रमण से रस-वृष्टि होती है तथैव इस सांवत्सरिक परिभ्रमण से भी रस-वृष्टि होती है, अतएव हम इसे भी 'रास' कहने के लिए तय्यार हैं । हमने बतलाया कि चाहे अयन कहीं भी हो, परन्तु भरणी को अमा मानना और विशाखा को पूर्णिमा मानना–यह अटल व्यवस्था है । कृत्तिका से आधे विशाखा तक सदा शुक्ल-पक्ष ही रहेगा, विशाखा से भरणी तक कृष्ण-पक्ष ही रहेगा ।

'आयनिक-रास' में बतलाया गया है कि पृथिवी और चन्द्रमा-६ महिने सूर्य्य से नीचे रहते हैं और ६ महिने ऊँचे रहते हैं । सूर्य्य बृहती के

---

१ सामवेद पू० २।२।१० ।

बीचों-बीच है। सूर्य्य-पिण्ड के केन्द्र का स्पर्श करता हुआ एक सम धरातल-स्थान बनाइए—इसी का नाम विषुवत् है। इस विषुवत्-वृत्त से जब पृथिवी मय चन्द्रमा के दक्षिण में अर्थात् नीचे की ओर जाने लगती है तो सूर्य्य ऊपर आने लगता है। बस, यही शुक्ल-पक्ष है। यहीं से शुक्ल-पक्ष का प्रारम्भ होता है। होते-होते पृथिवी आधे विशाखा पर—अयनान्त पर—आ कर ऊपर जाने लगती है, ज्यों-ज्यों पृथिवी उत्तर की ओर जाती है त्यों-त्यों सूर्य्य नीचे आने लगता है। बस, यहीं से कृष्ण-पक्ष का प्रारम्भ होता है। इसकी समाप्ति भरणी पर होती है। अवसान के अधिष्ठाता यम हैं, अतएव इसे 'यमदेवत्या' कहा जाता है। बस, यही दूसरा परिभ्रम है। इस परिभ्रम-काल को संवत्सरात्मा समझना चाहिए। इस परिभ्रम का मूल भव संवत्सर ही है। बस, यह जो संवत्सर-मण्डल-परिभ्रम है, वही दूसरा सांवत्सरिक-रास है।

"अथ सौरः सांवत्सरिको मास एवापरो रासो वक्तव्यः। कृत्तिकातो विशाखार्द्धान्तः शुक्लः पक्षः। तत्र पृथिवीचन्द्रौ सूर्य्यसमधरातलरूपत्वात्-विष्वद्वृत्ताद् दक्षिणतोऽधस्तात् संचरतः। सोऽयं शुक्लः पक्षः। विशाखा पूर्णमासी। अथ विशाखार्द्धात् पुनर्विषुवन्तमासौद्य ततः पृथिवीचन्द्रौ सूर्य्यादुत्तरत ऊर्ध्वं संचरतः। सोऽयं कृष्णपक्षः। भरणी यमदैवत्या अमावास्या। तथा चायं सूर्य्यप्रादक्षिण्यं चन्द्रमसः पुनरन्योमासकालः संवत्सरात्मा। स मण्डलपरिभ्रमो रासः"।

इति संवत्सररासः ॥२॥

३—मासिकरासः

आयनिक और सांवत्सरिक रास बतला दिया गया। अब मासिक-रास बतलाते हैं। आकाश में जितने भी नक्षत्र दिखलाई पड़ रहे हैं सब आप्य हैं। पानी के गोले हैं जैसे कि चन्द्रमा पानी का गोला है। पृथिवी-पिण्ड में १२ आना सूखा हिस्सा है, ४ आना पानी है। ठीक इसके विपरीत इन नक्षत्रों में १२ आना पानी है ४ आना मिट्टी है। इनमें पानी ही का भाग अधिक है, अतएव इन्हें 'उडु' कहा जाता है। इन आप्य-नक्षत्रों में जो आप चमक देख रहे हैं वह इनकी चमक नहीं है अपितु गौ की अर्थात् सूर्य्य-

रश्मियों की चमक है । **इत्था चन्द्रमसो गृहे** में चन्द्रमा को नक्षत्र मात्र का उपलक्षण समझना चाहिए । चन्द्रवत् सारे नक्षत्र आप्य हैं, अतएव परज्योति हैं । ये नक्षत्र सूर्य्य-रश्मियों को, जिन्हें कि गौ कहा जाता है चूस जाते हैं, अतएव इन्हें 'गोपी' कहा जा सकता है । अपिच रश्मि-स्वरूप को दिखलाते भी ये ही आप्य नक्षत्र हैं । सूर्य्य की रश्मियाँ यदि किसी पर आक्रान्त न हों एवं सीधी ही चली जाएँ, तो उनके स्वरूप का पता न लगे । इनका प्रत्यक्ष तभी होता है जब कि ये किसी पर आक्रान्त हो, वहाँ से प्रतिफलित हो कर आँखों पर आती हैं । चूँकि नक्षत्रों पर सूर्य्य-रश्मियाँ आक्रान्त हो प्रतिफलित होती हैं, ये ही प्रतिफलित रश्मियाँ हमारी आँख पर आती हैं, अतएव हम कह सकते हैं कि ये सारे नक्षत्र गौ की पालना करने वाले हैं—उन्हें दिखलाने वाले हैं, उनका स्वरूप प्रत्यक्ष करने वाले हैं । इस प्रकार सूर्य्य-गौरस (सूर्य्य-रश्मि-रस) को पीने के कारण एवं उनका पालन करने (स्वरूप दिखलाने) के कारण हम इन आप्य नक्षत्रों को 'गोपियाँ' कहने के लिए तय्यार हैं । आकाश में जितने भी नक्षत्र हैं—सब 'गोपियाँ' कहला सकती हैं । कहला क्या सकती हैं, अवश्य ही गोपियाँ हैं । इन गोपियों के साथ और विशाखा राधा के साथ भगवान् कृष्णचन्द्र रास-क्रीड़ा करते हैं । विशाखा, जिसे कि हम शक्राग्निदेवताक होने से 'राधा' कहेंगे—सूर्य्य-गौओं से उत्पन्न होती है एवं उन्हीं से प्रकाशित होती है । राधा, विशाखा नक्षत्र का नाम है । इसका जो प्रकाश है—नक्षत्र-प्रकाश है—वह सूर्य्य-रश्मियों से ही उत्पन्न होता है । जैसे और नक्षत्र आप्य हैं तथैव विशाखा नक्षत्र भी आप्य ही है । यह विशाखा-राधा सूर्य्य-गौ से उत्पन्न होती है—एवं इसी से प्रकाशित होती है । पुराणों में राधा को 'वृषभानु' की लड़की बतलाया जाता है । वास्तव में बात सच है । इस विशाखा राधा का जन्म वृष के भानु से ही होता है । राधा में आई हुई जो सूर्य्य-रश्मि है—वह वृषभानु का ही रेत है । क्यों कि विशाखा से ठीक सामने कृत्तिका-नक्षत्र पर तपता हुआ सूर्य्य वृष का ही रहता है । 'अश्विनी-भरणी-कृत्तिकापादमेकं वृषः' के अनुसार कृत्तिका पर रहने वाले सूर्य्य को हम अवश्य ही 'वृष का सूर्य्य' कह सकते हैं । इसके सामने विशाखा है । विशाखा में जो रश्मियाँ हैं—वे वृषभानु का वीर्य्य हैं । और किसी नक्षत्र में वृषभानु का तेज नहीं जाता है । समसाम्मुख्येन विशाखा पर ही वृषभानु का तेज जाता है । राधा का जन्म वृषभानु से ही होता है । नाई के

छुरे को 'कृत्ति' कहा जाता है। आकाशस्थ नक्षत्रों के नाम आकारविशेषों के आधार पर रक्खे गए हैं। आकाश में जो आग्नेय कृत्तिका नक्षत्र है—उसका आकार बिल्कुल नाई के छुरे जैसा है—जिसके कि प्रत्यक्ष-दर्शन किए जा सकते हैं। चूंकि वह नक्षत्र कृत्तिका के आकार का था, अतएव उसका नाम भी 'कृत्ति' रख दिया। व्याकरण के नियम से कृत्ति ही कृत्तिका कहलाने लगता है। कृत्तिका में देखा गया जो सूर्य्य है वह वृषभानु कहलाता है क्यों कि कृत्तिका वृष-राशि द्वारा भुक्त है। सारी १२ राशियों का नक्षत्रों के साथ भोग होता है। इसमें कृत्तिका का वृषराशि भोग करती है। अतएव कृत्तिका पर रहने वाले सूर्य्य को हम अवश्य ही 'वृषभानु' कहने के लिए तय्यार हैं। इसी कृत्तिका के गर्भ में वृषभानु के रेत से इस विशाखा राधा का जन्म होता है। वृषभानु राधा के पिता हैं कृत्तिका माता है। कृत्तिका और वृषभानु—दोनों के मिथुन से 'राधा' का जन्म होता है। पुराणों में राधा की माता का नाम 'कीर्त्ति' बतलाया गया है। परन्तु हमारे खयाल से पूर्वोक्त रास-विज्ञान न जानने के कारण किन्हीं शोधनकर्त्ता पण्डित जी ने कृत्तिका का कुछ अर्थ न समझ उस जगह 'कीर्त्ति' पाठ बना दिया है। कीर्त्ति भ्रम-कल्पित पाठ है, अतएव त्याज्य है। राधा की माता का नाम 'कीर्त्ति' नहीं है अपितु कृत्ति है। कहना हमें यही है कि कृत्तिका के गर्भ में वृषभानु से उत्पन्न जो राधा है उसके साथ भगवान् कृष्णचन्द्र का वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को सम्बन्ध हो जाता है। विशाखा पर जब चन्द्रमा आता है तो वह राधा से संयुक्त हो जाता है। वैशाखशुक्लापूर्णिमा को कृत्तिका पर सूर्य्य रहता है, विशाखा से अर्थात् राधा से संश्लिष्ट चन्द्रमा रहता है। बस, आधिदैविकी राधा का यही जन्मकाल समझना चाहिए। प्राकृतिक राधा का जन्म वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को ही होता है। जिस राधा की हम उपासना करते हैं वह वैशाख की पूर्णिमा को उत्पन्न होती है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"अपि च ब्रूमः—आप्यान्यपीमानि नक्षत्राणि सूर्य्यगोरसपानकर्त्तृत्वात् गोपालकत्वाच्च गोप्यः स्युः। विशाखा हीयं राधा सूर्य्यगोभिरुत्पन्ना प्रकाशिता भवति। राधायामागता चेयं गौर्वृषभानोरेव रेतो भवति। विशाखासमसूत्रायां-कृत्तिकायां योनौ प्रतपतः सूर्य्यस्य वृषभानुत्वात्। कृत्तिरिति नापितक्षुर-

संज्ञा । तदाकाराकारिता तारका कृत्तिः । सैव कृत्तिका । कृत्तिकायां दृष्टः सूर्य्यो वृषभानुः । कृत्तिकाया वृषराशिभुक्तत्वात् । तेन कृत्तिगर्भे वृषभानुरेतसेयं राधा प्रजायते इत्युक्तं भवति । यत्तु राधाया मातुः कीर्त्तिरिति नामाख्यायते तदेतद् विज्ञानमजानतां भ्रमकल्पित रूपं भावयामः । तथा च राधया संश्लिष्यमाणः कृष्णचन्द्रो वैशाखपूर्णिमायां दृश्यते । स हि राधाया आधिदैविक्या अवतारकालो भाव्यः" ।।

पुराणों में अनुराधा-नक्षत्र में भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को राधा का जन्म बतलाया जाता है । इस प्रकार भाद्रपद अष्टमी को जिस राधा का जन्म बतलाया गया है उसे मानुषी राधा का—आधिभौतिकी राधा का—जन्म काल समझना चाहिए । जैसे चन्द्रकृष्ण का अवतार इन मनुष्यकृष्ण में हुआ था तथैव उस नित्या गोलोकवासिनी-रासेश्वरी राधा का जन्म भी पृथिवीलोक में स्त्री-राधा के रूप में हुआ है । जिसमें उस आधिदैविकी राधा का अवतार हुआ—वह भी राधा ही कहलाई । इस मनुष्य देहधारिणी आधिभौतिकी राधा का जन्म वास्तव में भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को ही हुआ था । क्यों कि निम्नलिखित पुराण-वचन से ऐसा ही मानना उचित है । पुराण कहता है—

"केनचित् कारणेनैव राधा वृन्दावने वने ।
वृषभानुसुता जाता गोलोकस्थायिनी सदा" ।।[1]

जिस राधा का मनुष्य-शरीर में वृन्दावन में जन्म हुआ है वह असल में नित्या आधिदैविकी राधा है । उसी का अंश इसमें आया है, यही इस पुराण वचन का तात्पर्य्य है । इससे स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है कि भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को मनुष्य-शरीरधारिणी राधा का जन्म हुआ था न कि उपास्या आधिदैविकी राधा का ।

"भाद्रपद शुक्लाष्टम्यामनुराधायां तु राधाजन्माख्यानं 'केनचि' इति पुराणस्मरणाद् मनुष्यशरीराया आधिभौतिक्या द्रष्टव्यम्" ।।

---

१ देवी० भा० पुराण ९।५०।४३ ।

वैज्ञानिकी राधा का जन्म वैशाखा शुक्ला पूर्णिमा को ही होता है, क्यों कि जब कृत्तिका पर सूर्य्य रहता है तो विशाखा नक्षत्र सूर्य्य के ठीक सामने पड़ता है। कृत्तिका सूर्य्य 'वृष' का सूर्य्य है। क्यों कि राशिक्रमानुसार 'कृत्तिकापादत्रयं, रोहिणी, मृगशिरार्द्धं वृषः' के अनुसार कृत्तिकास्थ सूर्य्य वृषराशि का भोक्ता होता है। इसी वृषभानु के वीर्य्य से–कृत्तिका के गर्भ से–विशाखा नाम की राधा का जन्म होता है। परन्तु पुराणों में राधा का जन्म भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को बतलाया जाता है। इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए, क्यों कि मानुषी राधा का जन्म (आधिभौतिकी राधा का जन्म) वास्तव में भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को ही हुआ। बस, मानुषी वृषभानु से कीर्त्ति (कृत्ति) के गर्भ से बरसाने ग्राम में उत्पन्न होने वाली जो राधा थी वह चूँकि वास्तव में भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को ही उत्पन्न हुई थी एवं पुराण स्वभावतः ही आधिदैविक चरित्र और आधिभौतिक चरित्र की खिचड़ी बना कर बोला करता है–पुराण की दृष्टि दोनों ओर रहती है, अतएव वैज्ञानिकी राधा के भाव को साथ में रख कर आधिभौतिकी मानुषी राधा के जन्म को लक्ष्य में रख कर राधा का 'भाद्रपद शुक्ला अष्टमी' को जन्म बतलाता है। पुराण कहता है—

"केनचित् कारणेनैव राधा वृन्दावने वने।
वृषभानुसुता जाता गोलोकस्थायिनी सदा" ॥[1]

'गोलोकस्थायिनी' पद से पुराण वैज्ञानिकी राधा की ओर लक्ष्य दिलवाता है एवं 'वृषभानुसुता' से मानुषी राधा की ओर ध्यान दिलवाता है। इस सारे प्रपञ्च से कहना हमें यही है कि वैज्ञानिकी राधा का जन्म वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को ही होता है। पुराणों में जो राधा का जन्म-दिन 'भाद्रपद शुक्ला अष्टमी' को माना जाता है उसे मानुषी राधा का जन्म समझना चाहिए।

इस प्रकार पुराणोक्त राधा-जन्म की **मानुषी राधा को** लक्ष्य बना कर संगति हो सकती है। यदि इस पुराण-वचन पर वैज्ञानिक-दृष्टि से विचार

---

१ देवी० भा० पुराण ६।५०।४३।

करें तब भी आधिदैविकी और आधिभौतिकी राधा के जन्म का यथाकथञ्चित् अभेद बन सकता है। "भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को राधा का जन्म होता है"–पुराण के इस कथन का 'वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को जन्म होता है' इसके साथ वैज्ञानिक दृष्टि से भी यथाकथञ्चित् अभेद किया जा सकता है।

हमने बतलाया है कि सारा आकाश ९-९ नक्षत्रों के हिसाब से तीन खण्डों में विभक्त रहता है। एक-एक खण्ड में चार-चार राशियाँ रहती हैं। यह नक्षत्र-विभाग चूँकि कृत्तिका-नक्षत्र से माना जाता है, (कृत्तिका से ही क्यों माना जाता है ? इसका विवेचन पूर्व-प्रकरण में कर दिया गया है), अतएव आकाश का प्रारम्भ भी यहीं से माना जाता है। इस क्रम में कृत्तिका से पूर्वा फाल्गुनी तक पहला खण्ड रहता है, उत्तरा फाल्गुनी से पूर्वाषाढ़ा तक दूसरा खण्ड रहता है एवं उत्तराषाढ़ा से भरणी तक तीसरा खण्ड रहता है। सूर्य्य अथवा अन्य ग्रह सातवें घर पर पूरी दृष्टि से देखा करते हैं। राशिक्रम में सातवाँ घर ठीक सामने पड़ता है। बस, इस सातवें घर पर ग्रहों की पूरी निगाह रहती है एवं इधर-उधर तिरछी निगाह रहती है। आँखों में से एक प्रकार की ज्योति निकलती है। इस ज्योति का एक मण्डल बनता है। आँखों की अवधि से प्रारम्भ कर, आँखों के पूर्व-भाग में, आँखों की ज्योति का आधा मण्डल बनता है। इस मण्डल में ठीक सामने रक्खी हुई जो वस्तु है–उस पर हमारी पूरी निगाह पड़ती है एवं इधर-उधर की वस्तु पर तिरछी निगाह पड़ती है। बस, यह जो सामने का स्थान है–इसे ही सातवाँ स्थान कहा जाता है। इसी के लिए **पश्यन्ति सप्तमं सर्वे** यह कहा जाता है। कहना यही है कि सामने के नक्षत्र पर सूर्य्यादिग्रहों की पूरी दृष्टि पड़ती है एवं इधर-उधर के नक्षत्रों पर तिरछी दृष्टि पड़ती है।

जिस नक्षत्र पर पृथिवी रहती है उसी नक्षत्र पर यदि चन्द्रमा आ जाता है तो उस महिने का नाम उसी नक्षत्र से पड़ता है। पृथिवी यदि अश्विनी नक्षत्र पर है तथा यदि अश्विनी पर ही चन्द्रमा आ गया है तो वह महिना 'आश्विन' कहलाएगा। यदि पृथिवी पूर्वाभाद्रपद पर है और उसी पर चन्द्रमा आ गया है, तो वह महिना 'भाद्रपद' कहलाएगा। बस, सर्वत्र सभी महिनों के नामों में यही व्यवस्था समझनी चाहिए। साथ ही इतना और

समझ लेना चाहिए कि जिस नक्षत्र पर पृथिवी और चन्द्रमा–दोनों साथ रहते हैं, उस नक्षत्र से सूर्य्य ठीक षड्भान्तर पर (१८० अंश के फासले पर) ठीक सामने रहता है। यही इस महिने की 'पूर्णिमा' कहलाती है। सूर्य्य चन्द्रमा के ठीक सामने रहता है तभी पूर्णिमा होती है। चूंकि चन्द्रमा और पृथिवी जिस दिन एक नक्षत्र पर रहते हैं उस दिन पूर्णिमा रहती है, एवं पूर्णिमा बिना सौर-प्रकाश के हो नहीं सकती, अतएव मानना पड़ता है कि इस दिन (जिस दिन कि पृथिवी-चन्द्रमा एक नक्षत्र पर रहते हैं) सूर्य्य इस पृथिवी-चन्द्रमा से ठीक १८० अंश पर रहता है।

आकाश के तीन खण्डों का जब कृत्तिका-नक्षत्र से विभाग किया जाता है तो कृत्तिका से नवें नक्षत्र तक एक खण्ड होता है। वहाँ से १८ वें (अट्ठारहवें) तक दूसरा खण्ड होता है एवं वहाँ से २७ वें (सत्ताईसवें) तक तीसरा खण्ड होता है। जिस समय पृथिवी एवं चन्द्रमा पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र पर होते हैं, उस दिन सूर्य्य फाल्गुनी नक्षत्र पर रहता है। पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र से फाल्गुनी नक्षत्र ठीक षड्भान्तर पर (१८० अंश पर) पड़ता है। हमने बतलाया था कि जिस नक्षत्र पर पृथिवी होती है उसी पर यदि चन्द्रमा आ जाता है तो उस महिने का नाम उसी नक्षत्र के नाम से होता है, एवं वह दिन उस महिने की पूर्णिमा कहलाती है। इससे मानना पड़ता है कि भाद्रपद में पृथिवी-चन्द्रमा एक नक्षत्र पर हैं तभी तो इस मास का नाम 'भाद्रपद' हुआ एवं साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि इस पूर्वभाद्रपद नक्षत्र के ठीक सामने १८० अंश पर सूर्य्य भगवान् हैं, क्यों कि पूर्णिमा तभी होती है जब कि सूर्य्य चन्द्रमा के ठीक सामने रहे। जिस समय उत्तरा फाल्गुनी पर सूर्य्य रहता है, उस समय पृथिवी और चन्द्रमा भाद्रपद नक्षत्र पर रहते हैं, अतएव यह 'भाद्रपद' मास कहलाता है। इस समय इस पूर्वभाद्रपद पर तो **पश्यन्ति सप्तमं सर्वे** के अनुसार सूर्य्य की पूरी दृष्टि पड़ती है, परन्तु विशाखा एवं उधर पुनर्वसु पर तिरछी स्वल्प-दृष्टि पड़ती है। विशाखा का नाम ही राधा है। भाद्रपद के महिने में इस विशाखा में–राधा में–स्वल्प-दृष्टि से सूर्य्य-रश्मि का सम्बन्ध हो जाता है। यद्यपि पूर्ण-सम्बन्ध कृत्तिका पर एवं विशाखा पर ही आने से होता है, तथापि अल्प सम्बन्ध भादवे में भी हो जाता है। बस, इसी लिए भाद्रपद

में राधा का जन्म मान लिया जाता है। चूँकि आधिभौतिकी राधा का जन्म भाद्रपद में हुआ था एवं आधिदैविकी राधा का जन्म भी पूर्वोक्त विज्ञानानुसार भाद्रपद में होना सिद्ध हो जाता है, अतः आधिदैविकी और आधिभौतिकी राधा का यथाकथञ्चित् अभेद हो जाता है।

पुराणों में भाद्रपद में जो राधा का जन्म बतलाया जाता है, वह मानुषी राधा पर भी लागू होता है; क्यों कि वास्तव में मानुषी आधिभौतिकी राधा का जन्म भाद्रपद में ही हुआ था एवं यह पुराणोक्ति वैज्ञानिकी राधा पर भी लागू हो जाती है। क्यों कि भाद्रपद में उत्तरा फाल्गुनी पर सूर्य्य रहता है, अतएव विशाखा में इस सूर्य्य का स्वल्पदृष्ट्या योग हो जाता है। इस प्रकार पुराण-वचन 'आधिभौतिकी और आधिदैविकी' दोनों का अभेद बतलाता हुआ–यह राधा वही नित्या राधा है–यह उसी का अंश है–भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को 'राधा' का जन्म बतलाता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"आधिदैविकाधिभौतिकयोर्यथा कथञ्चित् सादृश्येनाप्यध्यवसायनिर्वाहः सम्भवात्। कृत्तिकातो नवतारकविभागे नक्षत्रमण्डले फल्गुनीषु तदानीं सूर्य्यस्यावस्थानात् स्वल्पदृष्टया राधायां सूर्य्यांशुयोगात्" ॥

राधा का जन्म पुराणों में भाद्रपद अष्टमी को बतलाया जाता है एवं वैज्ञानिकमार्गेण वैशाख-पूर्णिमा को राधा का जन्म होना सिद्ध होता है। इस प्रकार परस्पर विरोध होता है। इस विरोध-परिहार के लिए बीच ही में राधा-जन्म का प्रपञ्च बतलाना पड़ा! अब पुनः प्रकृत का अनुसरण करते हैं—

विशाखा नक्षत्र का नाम ही राधा है। यद्यपि सारे नक्षत्र-सूर्य्य ही की सन्तान हैं, क्यों कि सब का स्वरूप सूर्य्य ही से सम्पन्न होता है, तथापि वृषभानु की पुत्री तो केवल राधा ही है, क्यों कि वृष के सूर्य्य से ही राधा का स्वरूप बनता है। कृत्तिका पर जब सूर्य्य होता है, तो उसका पूर्ण प्रकाश विशाखा पर पड़ता है, एवं इस दिन कृष्णचन्द्र भी इसी विशाखा पर रहते हैं। इस दिन अर्थात् वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को वक्षस्थलस्थिता नित्या राधा और

रासेश्वरी राधा दोनों एक हो जाती हैं। इसी राधा के साथ भगवान् कृष्ण नृत्य करते हैं।

अब स्थिति को एकदम पलट दीजिए। कृत्तिका पर रहने वाले सूर्य्य को तो विशाखा नक्षत्र पर ले आइए और विशाखा पर रहने वाले चन्द्रमा को कृत्तिका-नक्षत्र पर ले जाइए। चन्द्रमा को जबर्दस्ती कृत्तिका पर ले जाने की जरूरत नहीं है। जब सूर्य्य विशाखा पर आ जाता है तो चन्द्रमा स्वयं कृत्तिका पर चला जाता है। इसीलिए तो पूर्वोक्त परिभाषानुसार उस मास का नाम 'कार्त्तिक' होता है। जिस दिन कृत्तिका पर भगवान् कृष्णचन्द्र रहते हैं–उस दिन विशाखा पर सूर्य्य रहता है। इस दिन सूर्य्य का जो प्रकाश कृष्ण-चन्द्र पर पड़ता है (जिस प्रकाश से कि वह कृष्णचन्द्र 'पूर्णचन्द्र' कहलाते हैं) वह प्रकाश 'राधामय' होता है। इस दिन अर्थात् कार्त्तिक शुक्ला पूर्णिमा को कृष्णचन्द्र के साथ–राधामय सूर्य्य-रश्मि का सम्बन्ध होता है। अन्य पूर्णिमा में केवल गोपियों का ही सम्बन्ध होता है, परन्तु इस पूर्णिमा को राधा से सम्बन्ध होता है। चूँकि राधा (विशाखा) इन्द्राग्निदेवतया सर्वसंवत्प्रदात्री है एवं कार्त्तिक पूर्णिमा को इसी का कृष्णचन्द्र से सम्बन्ध होता है, अतएव संवत्सर की ११ हों (ग्यारहों) पूर्णिमाओं की अपेक्षा से कार्त्तिक पूर्णिमा में कृष्णचन्द्र की यह अर्द्धाङ्गिनी राधा प्रचुर रूप में रस धारण कर लेती है। यद्यपि आश्विन की चन्द्रिका की अधिक प्रशंसा की जाती है, परन्तु जरा सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर मालूम होगा कि कार्त्तिक की जो चन्द्रिका है–उसमें भी जो पूर्णिमा की चन्द्रिका है–वह अत्यन्त ही आह्लादकारिणी होती है। यही कारण है कि कवि लोग—

"कार्त्तिक कहि पुनि शरदऋतु तामें दैवविधान।
ता जुत क्रीड़ा करत हैं श्यामाश्याम सुजान" ॥

—कह कर रासक्रीड़ा का कार्त्तिक मास में ही होना बतलाते हैं। आश्विन की अपेक्षा कार्त्तिकी पूर्णिमा में अधिक मिठास है। इस दिन राधा-रसप्रचुरा हो जाती है। राधा के स्वरूप का विकास-कार्त्तिक शुक्ला पूर्णिमा को ही होता है। कार्त्तिक शुक्ला पूर्णिमा को विशाखा पर सूर्य्य रहता है। इस

दिन यह राधा सुसज्जिता हो कर इस स्थान से–अपने पिता के घर से–अपने पति के घर जाती है। रासमण्डल में–रासावास में–आज यह राधा कृष्णचन्द्र के साथ रास करने जाती है। बस, रासेश्वरी राधा का सम्बन्ध इस रासावास में ही होता है। अतएव इसीलिए उसे–'रासावासनिवासिनी' कहा जाता है। चूँकि रास-महोत्सव कार्त्तिक-पूर्णिमा से प्रारम्भ होता है–इसी दिन राधा अपने पिता के घर से कृष्णचन्द्र के साथ रास करने रासावास में आती है, अतएव पुराणों में कार्त्तिकशुक्लापूर्णिमा को राधा-रासमहोत्सव बतलाया जाता है। पुराण कहता है—

"कार्त्तिक्यां पूर्णिमायां तु राधारासमहोत्सवः।
कृष्णः संपूज्य तां राधामुवास रासमण्डले"॥

कार्त्तिक की पूर्णिमा में राधा-रासमहोत्सव हुआ। भगवान् कृष्ण राधा का बड़े प्रेम से सत्कार करके रास-मण्डल में राधा के साथ संयुक्त हुए। वास्तव में इसी दिन 'रास-महोत्सव' होता है। कार्त्तिकपूर्णिमा को ही राधा चन्द्रमा से युक्त होती है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

"अथ यदा विशाखायां सूर्य्यः प्रतपति-कृष्णचन्द्रश्चायं कृत्तिकानक्षत्रे संनिधत्ते। तदानीं राधामयः सूर्य्यरश्मिरस्मिन् कृष्णचन्द्रे पूर्णं संयुनक्तीति कृत्वा सर्वेतरपूर्णिमापेक्षया नूनमस्यां कार्त्तिक्यां पूर्णिमास्थकृष्णचन्द्रस्येयमर्द्धाङ्गिनी राधा रसप्रचुरं मधुरं रूपं धत्ते। अतएव अयमस्या महोत्सवः कालः स्मर्य्यते"—

"कार्त्तिक्यां पूर्णिमायां तु राधायाः सुमहोत्सवः।
कृष्णः संपूज्यतां राधामुवास रासमण्डले"॥[1]

पुराणों में कार्त्तिकशुक्ला पूर्णिमा को भी राधा-जन्मोत्सव बतलाया गया है। पुराणों का कहना है कि कार्त्तिकशुक्ला पूर्णिमा को राधा का जन्म हुआ था। परन्तु हमारे ख़याल से उस पुराण-वचन को–'कृष्णसंग-जन्मपरक' लगाना चाहिए। कृष्ण के साथ राधा का सम्बन्ध पहले-पहल 'कार्त्तिक

---

१ देवी० भा० पुराण ९।१२।४७–४८।

पूर्णिमा' को ही हुआ—यही उस पुराण का तात्पर्य्य समझना चाहिए, क्यों कि आज भी भाद्रपदशुक्ला अष्टमी को ही राधा-जन्मोत्सव मनाया जाता है। भगवान् कृष्णचन्द्र के रास-मण्डल में राधा का जन्म अर्थात् सम्बन्ध कार्त्तिक-पूर्णिमा को ही हुआ था। बस, 'कार्त्तिक-पूर्णिमा' को राधा का जन्म हुआ था, इस पुराण का यही अर्थ समझना चाहिए। क्यों कि निम्नलिखित पौराणिक अक्षरों का यही स्वारस्य निकलता है। पुराण के अक्षर इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं। भगवान् व्यास कहते हैं—

"यः कार्त्तिक्यां पौर्णमास्यां राधाजन्मोत्सवं बुधः।
कुरुते तस्य सान्निध्यं दद्यात् रासेश्वरी परा"॥[1]

"कार्त्तिकशुक्लापूर्णिमा को जो मनुष्य राधा-जन्म-महोत्सव करता है—परा रासेश्वरी राधा उस मनुष्य को कृष्ण का सान्निध्य प्रदान करे"॥

अपिच— **"प्रथमं पूजिता राधा गोलोके रासमण्डले।**
पौर्णमास्यां कार्त्तिकस्य कृष्णेन परमात्मना"॥[2]

"कार्त्तिकशुक्ला पूर्णिमा को रास-मण्डल में राधा भगवान् कृष्ण द्वारा पूजी गई॥" पूर्वोक्त पुराण-वचन में 'पूजिता' शब्द आया है। इससे स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि कार्त्तिकशुक्ला पूर्णिमा को राधा का जन्म नहीं है अपितु प्रेम-जन्म है। इस दिन राधा के साथ रास-महोत्सव का जन्म होता है। चूँकि रासमहोत्सव राधाजन्माश्रित है, अतएव यह राधा का ही जन्म बतलाया जाता है—वह पुराणाक्षरस्वारस्येन कृष्णसंगजन्म—प्रेमजन्म—समझना चाहिए—यही तात्पर्य्य है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"यत्तु कार्त्तिकपूर्णिमायामस्यां राधाया जन्माख्यायते तद् रासमण्डले कृष्णसंगजन्माभिप्रायं भाव्यम्। 'यः कार्त्ति०' इत्यादिपौराणिकाक्षरस्वारस्येन तथैव प्रतिपत्तेः"॥

---

१ देवी०भा० पुराण ६।५०।४२। २ देवी०भा० पुराण ६।१।१५२–१५३।

कहना प्रकृत में यही है कि भगवान् कृष्णचन्द्र राधा के साथ रास-क्रीड़ा करते हैं एवं साथ ही ८ (आठ) सखियाँ भी रहती हैं। राधा का स्वरूप बतला दिया, अब ललितादि आठ सखियों का स्वरूप बतलाते हैं।

हमने बतलाया है कि सारे आकाश के ९-९ नक्षत्रों के हिसाब से तीन खण्ड मान लिए जाते हैं। यह विभाग कृत्तिका से प्रारम्भ होता है। कृत्तिका से पूर्वाफाल्गुनी तक पहला विभाग है, उत्तराफाल्गुनी से पूर्वाषाढ तक मध्यम विभाग है एवं उत्तराषाढ से भरणी तक तीसरा अन्तिम विभाग है। इन तीनों में जो मध्यम विभाग है–उसमें—

१–उत्तराफाल्गुनी, २–हस्त, ३–चित्रा, ४–स्वाती, ५–विशाखा, ६–अनुराधा, ७–ज्येष्ठा, ८–मूल, ९–पूर्वाषाढा–ये नौ नक्षत्र होते हैं। नवों में जो बीच का विशाखा नक्षत्र है–वह तो 'राधा' कहलाती है एवं इधर-उधर के दोनों ओर के नक्षत्र इस राधा की ललितादि आठ मुख्य सखियाँ मान ली जाती हैं। कारण इसका यही है कि कृत्तिकास्थ कृष्णचन्द्र का नव (९) तारकप्रदेश से सम्बन्ध होता है। **पश्यन्ति सप्तमं सर्वे** के अनुसार कृत्तिका पर रहने वाली चन्द्र-ज्योत्स्ना का पूर्ण सम्बन्ध तो 'विशाखा' से होता है, परन्तु इधर-उधर के आठ नक्षत्रों पर भी होता है। चूँकि इनमें अल्प प्रकाश होता है, अतएव इन्हें 'सखियाँ' मान लिया जाता है एवं बाकी बचे जो १८ (अट्ठारह) नक्षत्र हैं जो कि गोरस-पानकर्तृत्वात् गोपियाँ कहलाती हैं, इन्हें परिचारिकाएँ समझना चाहिए। इन परिचारिका गोपियों के साथ चान्द्रमासानुसारात–भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का प्रति-दिन चङ्क्रमण देखा जाता है। आज इस गोपी के साथ, कल उस गोपी के साथ–इस प्रकार अनवरत रास-क्रीड़ा होती रहती है। बस, नित्यकृष्ण का यही रास-विहार है, जो कि भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान में सदा ही रहता है। इस रास-मण्डल में भगवान् कृष्णचन्द्र प्रतिदिन अन्यान्य गोपिकाओं से युक्त होते रहते हैं। परन्तु इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि रासमण्डलानुप्रविष्ट राधा को यद्यपि इस क्रम में छोड़ दिया जाता है–राधा के साथ वर्ष में एक ही दिन रास होता है–तथापि जो कृष्ण-प्राणा वक्षःस्थल-स्थिता नित्या राधा है–उसे कभी नहीं छोड़ता है। अन्य गोपियों और रासेश्वरी राधा का साथ भले ही छूट जाए, परन्तु इस नित्या राधा का साथ कभी

नहीं छूट सकता ! वास्तव में ठीक है । चन्द्रमा का आधा भाग तो सदा ही प्रकाशित रहता है। इसी प्रकाश को 'वक्षःस्थलस्थिता कृष्णप्राणा नित्या राधा' कहते हैं ।

इस प्रकार ललितादि आठ सखियों के सहित राधा के साथ भगवान् कृष्णचन्द्र–मास, संवत्सर, अयन भेदेन–मासिक, सांवत्सरिक, आयनिक–तीन रास किया करते हैं । इसी रास से सम्पूर्ण जगत् की रक्षा हो रही है । यदि भगवान् कृष्णचन्द्र रास न करें, तो दधिमधुघृतानन्दादि रस की वर्षा ही न हो। यदि इन रसों की वर्षा न हो तो जीवनसत्ता ही न रहे—

"कृत्तिकातो नवतारकविभागस्य नक्षत्रमण्डलस्य मध्यमे विभागे राधा-(विशाखा) मभितश्चतस्रश्चतस्रस्तारका राधाया अष्टौ सख्यः कल्प्यन्ते । तावति नवतारके प्रदेशे कृतिकाचन्द्रज्योत्स्नानुगतेः साधु संप्रतिपन्नत्वात् । इतरास्त्वष्टादशगोप्यः परिवारिकाः स्युः । ताभिः सह चन्द्रमासानुसारात् प्रत्यहं कृष्णचन्द्रस्य परिचङ्क्रमणं दृश्यते–सोऽस्य रासविहारो भाव्यः । स हि तत्र कृष्णचन्द्रः प्रत्यहमन्यान्यगोपिकायां संनिधत्ते । किन्त्वेतां रासेश्वरीं रासमण्डलानुप्रविष्टां राधां क्रमेण परित्यजन्नपि नैतां कृष्णप्राणां राधामेव विजहद् रूपं धत्ते" ॥

इस प्रकार गोपियों सहित राधा के साथ विहार करता हुआ (अश्विनी-भरण्यादिनक्षत्रयुक्तराधानक्षत्र के साथ भोग करता हुआ) यह आकाशचारी कृष्णचन्द्र प्रतिदिन उछलता हुआ–सारे आकाशमण्डल की बारम्बार परिक्रमा लगाया करता है । यह रास-विहार अनवरत चलता रहता है । रास-क्रीड़ा में रासमण्डलाधिष्ठाता कृष्ण जमीन से चिपक कर सरकने की तरह नहीं चलते-अपितु उछाल भरते हुए चलते हैं । रास-क्रीड़ाभिज्ञ लोग यह जानते होंगे कि रास में उछाल होती है । भगवान् कृष्ण उछलते हुए चलते हैं । हाथों में जो डंके (डण्डे) रहते हैं–उनकी कड़कड़ाहट के साथ उछाल होती रहती है । आकाशचारी चन्द्रमा की गति मंगल की गति के तुल्य है ।

चन्द्रमा की गति बड़ी ही विचित्र है । यह चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर प[illegible] कभी तो यह अपना वृत्त छोटा बनाता है, कभी बहुत बड़ा बनाता है और कभी मध्य-स्थिति पर रहता है । अन्य ग्रहों की

गति नियत है, अतएव उनकी गति का हिसाब बिल्कुल ठीक बैठ जाता है, परन्तु चन्द्रगति का हिसाब ठीक नहीं बैठता। इसकी गति को पहचानने के लिए–भारतीय ज्योतिर्विदों ने तीन संस्कार दे रखे हैं। उनके दिए हुए तीन ही संस्कारों से प्रायः चन्द्र-गति पकड़ में आ जाती है। आपको यह पढ़ कर आश्चर्य होगा कि अपने को सायन्स की उच्च श्रेणी पर पहुँचा हुआ मानने वाला पाश्चात्य जगत् चन्द्र-गति की व्यवस्था को पहचानने के लिए अब तक ४० (चालीस) संस्कार दे चुका है। प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये खर्च करके बड़े-बड़े साइण्टिष्ट समुद्र में जहाज डाले हुए, यन्त्रों से चन्द्रगति-परीक्षा में व्यग्र रहते हैं, परन्तु फिर भी वे भारतीय ज्योतिर्विदों द्वारा व्यवस्थित तीन संस्कारों से ही ठीक-ठीक पहचानी हुई गति का अनुसन्धान करने में असमर्थ के असमर्थ ही हैं। चन्द्रमा जितनी तरह से पृथिवी के चारों ओर घूमता है, उन सब गतियों को तीन विभागों में बाँट रखा है। एक सब से नीचे की गति, एक सबसे ऊँचे की गति–एक मध्य की गति–बस, तीन गतियों में सब का अन्तर्भाव कर रखा है। पृथिवी के पास ही चन्द्रमा जब सबसे छोटी गति पर घूमता है तो उस समय इसका डायमिटर नजदीक होने के कारण बहुत बड़ा रहता है। मध्यगति में जा कर–छः अंगुल का रह जाता है एवं ऊपर की गति में जा कर इसका व्यास ४ (चार) ही अंगुल का रह जाता है। इस प्रकार यह इन तीनों गतियों से पृथिवी के चारों ओर घूमा करता है। गति के तारतम्य से इस चन्द्रमा का व्यास बदलता रहता है। इसीलिए ग्रहण चार प्रकार का हो जाता है। 'कैसे चार प्रकार का हो जाता है?'–इसके पहले देखें कि ग्रहण किसे कहते हैं? यह समझ लेना आवश्यक होगा। चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर घूमता है। घूमते-घूमते जब वह सूर्य्य को ढक लेता है, तो सूर्य्य का प्रकाश पृथिवी पर नहीं आता है, इसी का नाम ग्रहण है। चन्द्रमा की छाया से ही सूर्य्य-ग्रहण होता है एवं पृथिवी की छाया से चन्द्र-ग्रहण होता है। सूर्य्य-ग्रहण पश्चिम से प्रारम्भ होता है एवं पूर्व में जा कर शुद्ध होता है। इसका कारण यही है कि चन्द्रमा पश्चिम से पूर्व की ओर जाया करता है, अतः पहले वह सूर्य्य के पश्चिम भाग को ही दबाता है। अतः सूर्य्य-ग्रहण सदा पश्चिम से ही होता है। पूर्व की तरफ जाते हुए चन्द्रमा से जब सूर्य्य आवृत हो जाता है–तो सूर्य्य का प्रकाश हमारे पास नहीं आता। सूर्य्य-ग्रहण सदा अमावास्या को

ही क्यों होता है–इसका भी कारण समझ लेना चाहिए। चन्द्रमा और सूर्य्य जब दोनों मिल जाते हैं, तो वह दिन 'अमावास्या' कहलाता है। अतएव–**दर्शः सूर्य्येन्दुसंगमः** यह कहा जाता है। जिस समय चन्द्रमा सूर्य्य की ओर जाता है–तभी उसकी परछाईं सूर्य्य पर पड़ती है, एवं इसी का नाम ग्रहण है। यह काल अमावास्या का ही है, क्यों कि चन्द्रमा का सूर्य्य से मिल जाना ही तो अमावास्या कहलाती है–अतएव मानना पड़ता है कि सूर्य्य-ग्रहण सदा अमावास्या को ही होता है। परन्तु इस सूर्य्य-ग्रहण में चन्द्र-ग्रहण से इतनी विशेषता अवश्य समझ लेनी चाहिए कि सूर्य्य का जितना सा प्रदेश आवृत होता है एवं उस हिस्से का सम्बन्ध पृथिवी के जिस भाग में होता है, पृथिवी का वही हिस्सा अन्धकार से आवृत होता है। बाकी का हिस्सा ज्यों का त्यों प्रकाशी ही रहता है। जयपुर में यदि सूर्य्य-ग्रहण होता है, तो यह कोई जरूरी नहीं है कि वह मद्रास में भी हो। इतना ही नहीं, अपितु, जितना ग्रहण जयपुर में दिखलाई देगा, १०० कोस के अन्तर पर रहने वाले को उतना नहीं दिखलाई देगा। इस प्रकार व्याप्य-भाव से होने वाला एवं चन्द्रमा की परछाईं से होने वाला यह ग्रहण सूर्य्य के पश्चिम-भाग से प्रारम्भ होता है एवं पूर्व में जा कर शुद्ध होता है। यह सूर्य्य-ग्रहण प्रत्येक अमावास्या को होता है। इस तरह एक वर्ष में १२ (बारह) सूर्य्य-ग्रहण हो जाते हैं। इसका अर्थ यही है कि जब चन्द्रमा सूर्य्य की ओर आता है तो जितनी दूर तक चन्द्रमा उस सूर्य्य को आवृत करता है–उतनी दूर में पृथिवी के किसी न किसी हिस्से में छाया अवश्य पड़ेगी। बस, इस परछाईं का नाम ही तो सूर्य्य-ग्रहण है। परन्तु इस छाया का सम्बन्ध जब हमारी पृथिवी पर होता है अर्थात् जिस भाग में रहते हैं–उससे जब छाया का सम्बन्ध होता है–हमारी अपेक्षा से हमारे लिए तभी सूर्य्य-ग्रहण होता है। परन्तु प्रकृति-मण्डल में प्रति अमावास्या को सूर्य्य-ग्रहण होता है।

जिस तरह सूर्य्य-ग्रहण चन्द्रमा की छाया से होता है–ठीक इसके विपरीत चन्द्र-ग्रहण पृथिवी की छाया से होता है। पृथिवी के चारों ओर घूमते-घूमते जब चन्द्रमा पृथिवी के भूभाग में आ जाता है, तो उतनी दूर में सूर्य्य-प्रकाश के अवरोध हो जाने के कारण चन्द्रमा का उतना हिस्सा प्रकाश-शून्य हो जाता है। बस, इसी को चन्द्र-ग्रहण कहते हैं। चन्द्रमा का पूर्व-भाग

पहले भूमि की ओट में आता है अतएव सूर्य्य-ग्रहण से ठीक विपरीत चन्द्र-ग्रहण पूर्व से प्रारम्भ होता है एवं पश्चिम में शुद्ध होता है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि चन्द्रमा की सूर्य्य पर छाया पड़ जाने का नाम 'सूर्य्य-ग्रहण' है एवं चन्द्रमा पर पृथिवी की छाया पड़ जाने का नाम 'चन्द्र-ग्रहण' है। प्रसङ्गागत ग्रहण का अर्थ बता, अब पुनः प्रकृत का अनुसरण करते हैं। हमने कहा था कि चन्द्रमा तीन तरह से चलता है, अतएव सूर्य्य-ग्रहण चार तरह का हो जाता है। वे चारों ग्रहण निम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध हैं-(१) **खग्रास** (२) **कटकग्रास** **३-सर्वग्रास** **४-खण्डग्रास**। जिस समय चन्द्रमा सबसे ऊपर के महावृत्त में चला जाता है तो उसका और पृथिवी का बहुत अन्तर हो जाता है। अतएव उसका डायमिटर वहाँ पर जा कर (दूरी की वजह से) चार ही अंगुल का रह जाता है एवं सूर्य्य का डायमिटर रहता है-छ-अंगुल का। ऐसे समय में यदि चन्द्रमा की छाया पड़ने से सूर्य्य-ग्रहण होता है, तो वह '**कटक**' ग्रास कहलाता है। चन्द्रमा चार अंगुल के व्यास का रहता है, सूर्य्य ६ अंगुल के व्यास का रहता है, अतएव वह कड़े के आकार का हो जाता है। सूर्य्य के ६ अंगुल में से ४ अंगुल स्थान पर चन्द्र छाया जा बैठती है एवं सूर्य्य चारों ओर दो-दो अंगुल शेष रह जाता है। वह चूँकि कड़े की शकल में रहता है-अतएव इस ग्रहण को-'कटकग्रास' कहते हैं। जब चन्द्रमा मध्य की गति से घूमता है, तो उस समय उसका व्यास ठीक ६ अंगुल का होता है एवं इतना ही सूर्य्य-व्यास होता है। इस समय जो चन्द्र-छाया सूर्य्य पर पड़ती है, वह सारे सूर्य्य को ढक लेती है। क्यों कि चन्द्रमा भी ६ अंगुल के व्यास का है एवं सूर्य्य भी ६ अंगुल के व्यास का ही है, इस ग्रहण में सारा सूर्य्य आच्छन्न हो जाता है-अतएव इस ग्रहण को **सर्वग्रास** कहते हैं।

जब चन्द्रमा सबसे नीची गति से पृथिवी के अत्यन्त समीप ही घूमता है तो-नजदीकी के कारण इस समय इस गति में इसका व्यास ८ (आठ) अंगुल का हो जाता है। सूर्य्य-व्यास से चन्द्र-व्यास दो अंगुल बढ जाता है। इस समय सूर्य्य पर जो चन्द्र छाया पड़ती है, वह सूर्य्य को तो ढक ही लेती है, परन्तु चूँकि इस समय चन्द्रमा दो अंगुल बड़ा रहता है, अतएव सूर्य्य के चारों ओर के दो-दो अंगुल भी ग्रहण हो जाता है, अतएव इस ग्रहण को **'खग्रास'** कहते हैं।

अन्यान्य जो गति-तारतम्य हैं, उनसे सूर्य्य का कभी कम हिस्सा ढकता है, कभी अधिक ढकता है—इसको 'खण्ड-ग्रास' कहा जाता है। इस प्रकार चन्द्रमा की गति-तारतम्य से चार प्रकार का सूर्य्य-ग्रहण हो जाता है।

इस गति से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि चन्द्रमा जो रास करता है—वह उछलते हुए करता है। एक मार्ग से सीधी तरह से कृष्णचन्द्र रास नहीं करते, अपितु, कभी तो उच्चकक्षा में परिभ्रमण करते हैं, कभी ऊपर से एकदम नीची कक्षा में आ जाते हैं, कभी नीचे से फिर ऊपर की ऊँची (मध्य) कक्षा में चढ़ जाते हैं। इस प्रकार कभी अधिक उछल कर, कभी कम अधिक उछल कर नानागति से भगवान् कृष्णचन्द्र गोपियों सहित राधा के साथ रास-विहार करते हुए सारे आकाशमण्डल की बारम्बार परिक्रमा लगाया करते हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"तथा च गोपीभिः सहितया राधया विहरंश्चन्द्रोऽयमनुदिनं प्लवमानः सर्वमाकाशमण्डलं भूयो भूयः परिक्रमते। कदाचिदुच्चैः कक्षायामुत्प्लवमानो नीचैः कक्षायामाश्रयते। पुनरुच्चैरारोहति"॥

इस चन्द्रमा में सोलह कलाएँ होती हैं। प्रत्येक कला-समूह में हजार-हजार हैं। 'परमेष्ठिकृष्ण-रहस्य' के प्रारम्भ में बतलाए गए वषट्कार-रहस्य में बतलाया गया है कि प्रत्येक पिण्ड में वाक्, लोक, वेद तीन-तीन साहस्री रहती हैं। प्रत्येक में हजार-हजार रश्मियाँ रहती हैं एवं वह प्रत्येक रश्मि फिर हजार-हजार हैं। इस प्रकार वह महिमा-मण्डल साहस्री से आप्लुत रहता है। इसी साहस्री का स्वरूप बतलाते हुए वेद भगवान् कहते हैं—

"सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्"॥[1]

बतलाना यही है कि चन्द्र-पिण्ड भी साहस्र-मण्डल-युक्त है। चन्द्रमा में १६ कलाएँ हैं एवं प्रत्येक कला हजार-हजार की संख्या में है एवं ये सारी कलाएँ

---

१ ऋग्वेद मं० १०।११४।८।

सूर्य्य-रश्मि-पान करने के कारण गोपियाँ कहलाती हैं। बस, इन १६ हजार गोपियों के स्वामी आकाश-विहारी यह कृष्णचन्द्र उन आठ सखियों सहित राधा के साथ 'रास-विहार' करते रहते हैं। भगवान् कृष्णचन्द्र की यह आधिदैविकी नित्या रासक्रीड़ा समझनी चाहिए—

"सेयमस्य रासक्रीडाऽऽधिदैविकी भवति"।

'वैहायस-कृष्ण-रहस्य' के प्रारम्भ में ही बतलाया गया है कि वसुदेव के पुत्र विश्वक्सेन इसी कृष्ण के अवतार थे। जैसे इसमें परमेष्ठी गोलोकनाथ का अंश था, तथैव इस आकाशचारी कृष्णचन्द्र का भी अंश था, अतएव यह 'कृष्णचन्द्र' नाम से ही व्यवहृत किए गए। जिसमें जिस देवता का अंश होता है, उसमें उस देवता के करीब-करीब सारे धर्म्मों का समावेश हो जाता है, जैसा कि पूर्व प्रकरणों में कई बार कहा गया है। उदाहरणार्थ–युधिष्ठिरादि पाँचों पाण्डुओं का जीवन-चरित्र ही पर्याप्त होगा। युधिष्ठिर धर्म्मराज के अंश से उत्पन्न हुए थे, अतएव वे यावज्जन्म धर्म्म पर ही आरूढ हुए, एवमेव अन्यों में भी समझना चाहिए। वसुदेव के पुत्र में चूँकि इस आकाशविहारी कृष्णचन्द्र का अंश था, अतएव जो धर्म्म उस कृष्ण में हैं–उन सब का समावेश इस कृष्ण में हो गया—

"चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि"।।[1]

श्रुति के अनुसार मानना पड़ता है कि चन्द्रमा पानी के समुद्र के बीच में रहता है। चूँकि मनुष्य-कृष्ण उसी के अंश थे, अतएव इन्हें समुद्र के बीच में द्वारिका बसानी पड़ी एवं उसमें रहना पड़ा। चूँकि वह कृष्ण गोपियों युक्त राधा के साथ कार्त्तिक-मास में रास करता है, अतएव तदंशभूत इस मनुष्य श्रीकृष्ण को भी ललितादि सखियों से युक्त राधा के साथ रास करना पड़ा। जैसे कृष्ण उस कृष्ण के अवतार थे, तथैव राधादि सखियाँ भी उन-उन दिव्य-देवताओं की अवतारभूता ही थीं, अतएव पुराणों में लिखा रहता है कि जब भगवान् ने मृत्यु-लोक में अवतार लेना चाहा था, उन्होंने सारी दिव्य-शक्तियों

---

१ ऋग्वेद मं० १।१०५।१।

को एवं राधा को आज्ञा दी कि मृत्यु-लोक में जा कर तुम ग्वाल-बालों के यहाँ जन्म लो–हम भी पीछे से आते हैं ।

कहने का मतलब यही है कि तदंशभूत मनुष्य-श्रीकृष्ण ने उसी नित्य कृष्ण का अनुकरण कर मनुष्य-रूप में अवतीर्ण राधा के साथ 'रास-विहार' किया । पुराणों में प्रतिपादित जो भगवान् कृष्ण का 'रास-विन्यास' है–वह वैज्ञानिक दिव्य-रास का अभिनय है एवं तद्द्वारा ज्योतिषविज्ञान का नक्षत्र चन्द्रमा-गति आदि का अनुशिक्षण मात्र है । रास-क्रीड़ा में बहुत बड़ा नक्षत्र-विज्ञान छुपा हुआ है । रास-क्रीड़ा-रहस्य मालूम हो जाने पर सारे खगोल का ज्ञान हो जाता है । सारे विश्व में सब प्रकार की शिक्षा देने वाले वैहायस-कृष्ण के अंश से उत्पन्न भगवान् मनुष्य श्रीकृष्ण ने तदात्मकतया स्वयं रास-विहार कर संसार को ज्यौतिष-विज्ञान का उपदेश दिया एवं संसार को बतलाया कि सारे विश्व की स्थिति इन्हीं तीनों मासिक, सांवत्सरिक एवं आयनिक रासों पर निर्भर है । इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

"तदनुकृत्यैव चायं मनुष्यशरीरः श्रीकृष्णो राधया रासविहारं चक्रे । सोऽयमस्य रासविन्यासो वैज्ञानिकदिव्यरासाभिनयरूपो ज्यौतिषविज्ञानानुशिक्षा-मात्रं द्रष्टव्यम्" ॥

आकाश में विचरने वाले जिस भगवान् वैहायस कृष्णचन्द्र के दिव्य (आधिदैविक) रास का हमने स्वरूप बतलाया है, उस प्रकृतिसिद्ध नित्य-रास-विहार से ही पृथिवी-लोक में रहने वाले यच्चयावत् मनुष्यों के मनोभाव प्रतिक्षण-प्रतिक्षण ही नहीं, प्रतिपल-प्रतिपल ही नहीं, अनुपल भिन्न-भिन्न रसों में परिणत होते रहते हैं । कभी उन्नतभाव उठते हैं, कभी नत-भावों का समुत्थान होता है । कभी सुख रहता है–कभी दुःख रहता है । कभी किसी चीज को लेने की इच्छा (संकल्प) होती है–कभी उससे घृणा (विकल्प) होने लगती है । कहाँ तक कहें–मन में अनन्तानन्त भाव उठते हैं और लीन हो जाते हैं । सारे जीवन की तो कथा ही छोड़िए । आप प्रातःकाल से सायंकाल तक की चर्या पर ध्यान दीजिए । आपको मालूम होगा कि १२ घण्टे में आपका मन कितनी वृत्तियाँ उत्पन्न करता है । एक क्षण के लिए भी मन का एकरस हो जाना अत्यन्त कठिन है । अतएव भगवान् कृष्ण ने जब अर्जुन को मनोयोग

का—संयम का उपदेश दिया तो अर्जुन मन की चञ्चलता पर विचार करता हुआ भगवान् से पूछता है—

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्" ।।[1]

हम आप से प्रश्न करते हैं कि बतलाइए ! मन इतना चञ्चल क्यों है ? क्यों एक क्षण के लिए भी मनोभाव एकरस नहीं ठहरते ? इसका एक-मात्र उत्तर है–मनःप्रभवचन्द्रकृता रास क्रीड़ा । जैसे हमारी वागिन्द्रिय अग्नि-देवता से बनती है–चक्षुरिन्द्रिय सूर्य्य से बनती है–श्रोत्रेन्द्रिय दिक्-सोम से बनती है–घ्राणेन्द्रिय वायु-देवता से बनती है–तथैव हमारा मन 'चन्द्रमा' से बनता है । अतएव यह कहा जाता है—

"चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्य्यो अजायत" ।[2]

अतएव–**मनश्चन्द्रेण लीयते** यह कहा जाता है । **कारणगुणाः कार्य्य-गुणानारभन्ते**–यह अटल सिद्धान्त है । जैसी सिफ्त–जैसे गुण–जैसा स्वभाव कारण में होता है–वही सिफ्त–वही गुण–वही स्वभाव–उस कारण से उत्पन्न होने वाले कार्य्य में भी आ जाते हैं । यदि मुलायम बाल हैं तो उनका कम्बल भी मुलायम ही होगा । यदि पिता बलिष्ठ है, तो सन्तान भी बलिष्ठ ही होगी । चूँ कि चन्द्रमा से मन बनता है एवं चन्द्रमा अत्यन्त चञ्चल है–वह सदा रास-क्रीड़ा में ही व्यस्त रहता है–सदा उछलता-कूदता ही रहता है–क्या मजाल ! चन्द्रभाव एक सेकण्ड को भी एकरस हो जाए । भला ऐसे चन्द्रमा से बनने वाला मन क्यों कर एकरस रह सकता है ? संसार के यच्चयावत् मनुष्यों के मनोभाव क्षण-मात्र भी एकरस हो कर नहीं ठहरते–इसका कारण हमारी समझ में तो यही आता है कि मन का प्रभव चन्द्रमा रास-क्रीड़ा किया करता है एवं **कारणगुणाः कार्य्यगुणानारभन्ते**–यह सिद्धान्त है–अतएव मनुष्यों के मनोभाव स्थिर नहीं रहते । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—

"एतेनैव हि दिव्यस्य कृष्णचन्द्रस्य प्रकृतिसिद्धेन रासविहारेण अशे-षाणामिह मनुष्यादिप्राणिनां मनोभावा अनुपलं भिन्नरसैः परिवर्त्तन्ते ।

---

१ गीता ६।३४ २ ऋग्वेद मं० १०।९०।१३ ।

उच्चैर्भावा, नीचैर्भावाः, सुखवृत्तयो, दुःखवृत्तयः, संकल्पविकल्पात्मका (मनोभावाः) अतिरिच्यन्ते, नैकरसास्तिष्ठन्ति । तदेतेषां मनोविकाराणां मनःप्रभवचन्द्रकृता रासक्रीडैव हेतुर्विज्ञायते" ।।

कदाचित् इस पर आप प्रश्न करें कि अच्छा साहब ! थोड़ी देर के लिए हम आपके कथन को मान लेते हैं । हमने मान लिया कि वैहायसकृष्णचन्द्रकृत रासक्रीड़ा से ही सब के मनोभाव बदलते रहते हैं । परन्तु यह जानने से हमें क्या लाभ हुआ ? प्रकृति जैसा करती है–करती रहे । उसके जानने में हम अपनी मस्तिष्क-शक्ति को क्यो खर्च करें ? इसके उत्तर में अधिक न कह कर हमें केवल इतना ही कहना है कि अनन्तकाला अर्थात् नित्याप्रकृतिसिद्धा जो यह रास-क्रीड़ा है–यदि उसे वैज्ञानिक रूप से जान लिया जाता है, तो उसके द्वारा संसार के प्राणि-मात्र के जीवन-रस के परिवर्त्तन का ज्ञान हो सकता है । 'किस के मन में इस समय क्या है ? हम से कितने मनुष्य दिखावटी प्रेम करते हैं ? कितने मनुष्य सच्चा प्रेम करते हैं ? कौन हमारा शत्रु है ? कौन मित्र है ?'–रास-विज्ञान से यह सब मालूम किया जा सकता है एवं मालूम करके संसार में अपने को उन्नत बनाया जा सकता है ।

"अनन्तकाला हीयं रास-क्रीडा वैज्ञानिक-रूपेण विज्ञाता सती निःशेषप्राणिनां जीवनरसपरिवर्त्तनविज्ञानायोपकर्त्तुं क्षमते इति (हि वैज्ञानिकानां भारतीयमहर्षीणां) सिद्धान्तः । (रास-विज्ञानेन जीवनरसपरिवर्त्तनं ज्ञातुं शक्नुवन्ति)" ।।

इस प्रकार सोमवंशी भगवान् श्री कृष्णचन्द्र के सोममय दिव्य कृष्ण अवतारत्व की बहुत से चरित्रों को देख कर औपासनिक लोग–सदृशता की भावना किया करते हैं । इस मनुष्य-कृष्ण में चूँकि वैहायस-कृष्ण के सारे चरित्र मिलते हैं, अतएव हम इसे उसका अवतार कहने के लिए तय्यार हैं । बस, सारे 'वैहायसकृष्ण-रहस्य' का यही तात्पर्य्य है—

'तदित्थमस्य सोमवंशस्य श्रीकृष्णचन्द्रस्य सोममयदिव्य-कृष्णावतारकत्वं बहुभिरनुचरितैः सौसादृश्यादनुभावयन्ति (औपासनिकाः)इति भाव्यम्" ।।

।। इति वैहायसकृष्णरहस्यं समाप्तम् ।।

पौराणिक-रास-शंका-समाधानम्

सारी रामायण बाँच गए—परन्तु यह पता न लगा कि राम कौन था ? और रावण कौन था ? भगवान् कृष्ण कौन थे, क्यों इन्हें अवतार माना जाता था, क्यों इन्होंने रास-क्रीड़ा की थी ?—इत्यादि विषयों का हम वैहायस-कृष्ण-रहस्य में विस्तृत विवेचन कर चुके। भगवान् कृष्ण कैसे अवतार कहलाए ? क्यों इन्होंने रास-क्रीड़ा की ?—इत्यादि विषयों का वैज्ञानिक-दृष्टि से विवेचन कर दिया गया। परन्तु 'सारी रामायण बाँच गए, फिर भी राम कौन था ? रावण कौन था ?' वाली किंवदन्ती के अनुसार संशयी मनुष्यों का संशय दूर न हुआ। सब सुन-सुना कर भी वे पुराणोक्त रास-लीला पर आक्षेप करने से वाज नहीं आए। 'राम-राम ! पुराणों में कैसी अश्लीलता है ? जिसे अवतार माना जाता है—उसका व्रज की युवतियों के साथ अपने पति पुत्रादिकों को छोड़ कर रात्रि में—एकान्त में रास-विलास' ! छिः ! छिः !! सभ्य-समाज में ये पोपकथाएँ कैसे प्रतिष्ठा पा सकती हैं ? आज वैज्ञानिक युग है। आज का समाज पहले के समाज की तरह अन्ध-भक्त नहीं है—आज का समाज रूढियों का गुलाम नहीं है। आज का समाज हर एक बात को कसौटी पर कस कर तब उस पर विश्वास करता है। 'भगवान् कृष्ण ने एकान्त में गोपियों के साथ रास-क्रीड़ा की थी'—अब इन बातों पर विश्वास नहीं हो सकता। ऐसी-ऐसी गप्प-कथाएँ जिन पुराणों में भरी हुई हैं—उन पुराणों के प्रति असहयोग करना चाहिए। ऐसे गन्दे साहित्य को, जिसने कि भारत की कीर्त्ति में धब्बा लगा रक्खा है—सदा के लिए नेस्तनाबूद कर देना चाहिए, अन्यथा इनसे संसार में बहुतसा अनाचार फैलने की सम्भावना है। आजकल अपने को पढ़ा-लिखा समझने वाला सभ्य-समाज भारतीय पुराणशास्त्र पर दिन-दहाड़े आक्रमण कर रहा है। उसे पुराण गप्प-कथाओं का संग्रह प्रतीत हो रहा है, चाहे उसे 'पुराण' शब्द का भी अर्थ आता हो या न आता हो। जिन पुराणों के लिए—

"पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः ।।"[१]

यह कहा जाता है, उन पुराणों पर—जो पुराण अनन्त विद्याओं का भण्डार होने के कारण 'आर्य-सर्वस्व' हैं—उन पुराणों पर—उस भारतविभूति पर पाश्चात्य-शिक्षा-दीक्षित सभ्य समाज का बिना सोचे समझे आक्षेप करना, पुराण-पुस्तकों के दर्शन-मात्र का भी जिन्हें सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है—ऐसे महाशयों का पुराणों को 'गप्प' बताना—साहस है—अपराध है—अपराध ही नहीं, अक्षम्य अपराध है । 'पुराण पोप-लीला है, आर्यों को कभी पुराण नहीं देखने चाहिए'—स्वामीजी के इस उपदेश ने भारतवर्ष का ऐसा अनिष्ट किया है- जिसका वर्णन नहीं हो सकता । स्वामीजी ने पुराणों के विषय में जो समालोचना की है—हमारे ख़याल से, स्वामी जी की यह समालोचना यथार्थ से परे है । यह स्वामीजी की अपनी समझ है एवं बुद्धिमान् मनुष्य उसे देख कर—'स्वामीजी ने भारत का कैसा अच्छा उद्धार किया'—इसका पता लगा सकते हैं । अस्तु, 'पुराण कैसे हैं ? पुराण क्या वास्तव में गल्प हैं'—हमें इन विषयों का विवेचन नहीं करना । प्रकृत में हमें केवल 'रास-लीला' सम्बन्धी आरोपों का विचार करना है । अपने को सभ्य बतलाने वाला समाज कहता है कि साहब ! रास-लीला का पुराणों में बहुत ही अश्लील वर्णन आया है । इस पर अधिक कुछ न कह कर हम उनसे यही कहते हैं कि कृपा कर यह तो बतलाइए कि रास-लीला में अश्लीलता का वर्णन आपने किस पुराण में देखा ? पुराण-वर्णित रास-लीला में आपको क्या अश्लीलता प्रतीत हुई जिससे आप नाक-भौं सिकोड़ने लग गए ? क्या स्वामी जी महाराज के 'सत्यार्थ-प्रकाश' को ही ब्रह्म-वाक्य मान कर पुराण-सूर्य्य पर धूलि-प्रक्षेप कर डाला ? आप तो वैज्ञानिक हैं-आप तो कसौटी पर कस कर बात को मानने वाले हैं—आप तो निष्पक्ष-पात हृदय से विचार करने वाले हैं । आप तो 'जो अच्छी है, उसे लेना, बुरी हो उसे छोड़ देना' के पक्षपाती हैं । क्या कभी कृपा कर आपने पुराणों के रास-लीला-वर्णन को पढ़ने का कष्ट उठाया है ? अथवा—केवल 'सत्यार्थ-प्रकाश' से ही सब कुछ निर्णय कर डाला । यदि पुराणों को न देख कर सुनी-

---

१ मत्स्य पुराण अ० ३।३ ।

सुनाई बातों के आधार पर ही आपने पुराण-कथाओं को निरी गप्प मान लिया है, तब तो आप अपने स्वरूप को स्वयं पहचान सकते हैं कि आप कैसे हैं ? नहीं तो फिर बतलाइए किस पुराण में रास-लीला का अश्लील वर्णन है ? आप पर यह प्रश्न छोड़ कर हम प्रकृत का अनुसरण करते हैं। अट्ठारह पुराणों में से आज भारतवर्ष में अन्य पुराणों की अपेक्षा 'श्रीमद्भागवत पुराण' पठन-पाठन में विशेष रूप से आया हुआ है, अतएव हम उसमें वर्णित 'रास-लीला' पर ही थोड़ा-सा प्रकाश डालेंगे।

भगवान् कृष्णचन्द्र के लिए **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** यह कहा जाता है। सच्चिदानन्द ही ईश्वर का स्वरूप है। सच्चिदानन्द में सत्, चित्, आनन्द-ये तीन पद हैं। सत्-अस्तित्व का नाम है–ठहराव का नाम है। चित्-विज्ञान का नाम है–आनन्द अति प्रसिद्ध है ही। कृष्ण के अलावा जितने भी अवतार हुए–उनमें सत्ता-चेतना-आनन्द–तीनों में से एक अंश ही था। भगवान् रामचन्द्र में चेतना भी थी अर्थात् उनमें ज्ञान का अंश भी पूर्ण था एवं सत्ता का अर्थात् बल का अंश भी पूर्ण था। परन्तु उनमें आनन्द का भाव उल्वण न था। प्रादुर्भावावस्था से तिरोभावावस्था तक रामचन्द्र दुःखी ही दुःखी रहे। बचपन में ही विश्वामित्र के साथ जंगलों की खाक छाननी पड़ी। बड़े-बड़े कष्ट सह कर सीता को प्राप्त किया। जहाँ युवराज पद-प्राप्ति का समय आया कि एकदम १४ (चौदह) वर्ष के लिए वनवास जाना पड़ा। वहाँ पर भी सीता का रावण द्वारा हरण हो गया। किसी तरह उसे प्राप्त किया तो रजकापवाद से गर्भवती सीता का विवश हो परित्याग करना पड़ा। कहना यही है कि भगवान् रामचन्द्र का सारा जीवन दुःख में ही व्यतीत हुआ। इसी दुःख का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"भोगार्हे नवयौवनेऽपि विपिने चीराम्बरो राघवः।
तत्राप्यस्य परेण दारहरणं क्लेशस्तदन्वेषणे॥

संप्राप्ताऽपि जनापवादरजसा त्यक्ता पुनर्जानकी।
सर्वं दुःखमयं तदस्य चरितं श्लाघ्यो विवेकोदयः" ॥[1]

---

१ कवि-सम्राट् क्षेमेन्द्र कृत रामायण मञ्जरी।

चूँकि रामचन्द्र में आनन्द की कमी थी, अतएव उन्हें 'पूर्णावतार' नहीं माना गया। परन्तु भगवान् कृष्ण में तीनों मात्राएँ मौजूद थीं। सात दिन की अवस्था में ही, पलने में पड़े-पड़े ही शकटासुर को मार डालना–पूतना का वध कर डालना–भगवान् कृष्ण के सत्तांश का ज्वलन्त उदाहरण है। ज्ञान की ओर चलिए। भगवान् के मुख से निकली हुई गीता आज सारे विश्व के मनुष्यों के ज्ञान के बदलाव के लिए पर्य्याप्त है। गीता पर सहस्रों टीकाएँ बन चुकीं। परन्तु अभी उस ज्ञान-समुद्र के अन्तस्तल का किसी को पता न लगा। क्या ज्ञानांश की पूर्णता के लिए इससे अधिक प्रमाण उपस्थित करने की आवश्यकता है? आनन्द की ओर चलिए। अहा! हा!! आनन्द का तो कहना ही क्या है? आप कृष्ण के सारे जीवन पर दृष्टि डाल जाइए। आपको एक भी मौका ऐसा न मिलेगा, जहाँ पर कि कृष्ण दुःखी हुए हों। वे सदा ही प्रसन्न रहते थे। अरे, वे क्या प्रसन्न रहते थे जो एक बार उनकी मनमोहिनी सूरत देख लेता था, वह सदा के लिए सुध-बुध भूल जाता था। बंशीधर ने घोर आपत्ति आ जाने पर भी कभी बंशी को अलग न किया। लीलाधर लीला संवरण कर गए, परन्तु आज उनके चित्र के दर्शन से ही वह आनन्द आता है–जिसका वर्णन यह क्षुद्र लेखनी नहीं कर सकती। इसीलिए भगवान् कृष्ण के लिए 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' यह कहा गया। इसीलिए उन्हें 'पूर्णावतार' माना गया। जिस समय भगवान् कृष्ण अपनी सोलह कलाओं सहित भूमण्डल पर अवतीर्ण हुए, ब्रह्मा आदि देवताओं ने उनकी परीक्षा करना आरम्भ किया–अन्त में वे परीक्षा में उत्तीर्ण हुए एवं उन्हें विश्वास हो गया कि हाँ–वास्तव में देवकी के गर्भ में वही गोलोकनाथ सच्चिदानन्द अव्यय ब्रह्म अवतीर्ण हुए हैं। अन्य जितने भी अवतार हुए थे–वे कामदेव के वशीभूत हो गए थे। भगवान् रामचन्द्र के जीवन पर दृष्टि डालिए। सीता के विरह में रामचन्द्र पागल हो जाते हैं और वन में वृक्षों से–वल्लरियों से–पूछते हैं—

"रे वृक्षाः पर्वतस्था गिरिगहनलता वायुना वीज्यमानाः।
रामोऽहं व्याकुलात्मा दशरथतनयः शोकशुक्रेण दग्धा॥

बिम्बोष्ठी चारुनेत्री सुविपुलजघना बद्धनागेन्द्रकाञ्ची।
हा! सीता केन नीता मम हृदयगता को भवान् केन दृष्टा"॥

कामदेव ने सुना कि धरातल पर ईश्वर का अंश अवतीर्ण हुआ है एवं वह पूर्णावतार सुना जाता है। जिस कामदेव को ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि के ऊपर विजय प्राप्त करने का गर्व था-वह काम इतना सुनने के बाद कैसे चुप रह सकता था ? वह द्वारिका में आता है और भगवान् कृष्ण के सामने खड़ा हो-हँस कर कहता है कि मैंने सुना है कि आप पूर्णावतार हैं। परन्तु मैं तभी यह मान सकता हूँ जब कि आप मुझे परास्त कर दें ! बिना मुझे परास्त किए आप 'पूर्णावतार' नहीं कहला सकते। भगवान् ने कामदेव की चुनौती स्वीकार करते हुए कहा कि ठीक है। कामदेव ने कहा कि पहले यह शर्त हो जानी चाहिए कि लड़ाई मैदान में हो, मुझे अपने शस्त्रास्त्रों के प्रयोग करने में पूरी स्वतन्त्रता हो एवं आप बिल्कुल निहत्थे रह कर मुझ से मोर्चा लें–क्यों कि घर की लड़ाई में–किले की लड़ाई में–आप सम्भव है, मुझे पछाड़ दें। परन्तु ऐसी हार से मैं अपने को हारा हुआ नहीं मान सकता, क्यों कि किले की चारदीवारी में बैठ कर तो मामूली मनुष्य भी जय प्राप्त कर सकता है। अतः यदि आप पूर्णावतार हैं–अन्य अवतारों की अपेक्षा आप में अधिक कलाएँ हैं–तो इस पूर्णावतारत्व को सिद्ध करने के लिए मैदान में आइए और काम-विजय कर पूर्णावतार कहलाइए। भगवान् ने कामदेव की सारी शर्तों को स्वीकार किया और कहा कि अच्छा, लड़ाई मैदान में होगी और वहाँ पर तुझे ही सारी सुविधाएँ दी जाएँगी। हम निहत्थे रह कर तुम से मोर्चा लेंगे। इस प्रकार कामदेव और भगवान् कृष्ण में परस्पर युद्ध की बाजी लग गई।

जिस कामदेव का हमने ऊपर जिकर किया है–वह कोई सजीव मूर्ति नहीं है, अपितु, मनोज काम ही कामदेव है। मन का जो विकार है–वही काम-शक्ति कहलाता है। मन में यदि पहले बार कोई तत्त्व उत्पन्न होता है–तो वह यही काम है। मन का रेत ही काम कहलाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्"-इति।[1]

---

१ ऋग्वेद मं० १०।१२९।४।

इस काम-शक्ति का प्राबल्य खास-खास समय पर ही हुआ करता है। जहाँ पर संगीत-सुधा बरस रही हो, देवाङ्गनाओं सदृश युवतियों का सम्मेलन हो–कमलयुक्त सरोवर हो–रात्रि हो–वह भी शुक्ल-पक्ष की हो–वह भी शरद् ऋतु की हो–उस पर भी शून्य-स्थान हो–जहाँ पर ऐसी-ऐसी सामग्रियाँ उपस्थित हों–वहाँ काम-शक्ति अधिक प्रबल रहती है।

संगीतध्वनि, एकान्तस्थान, सरोवर का तट, शरद्यामिनी, रात्रि का समय–इत्यादि सारा प्रपञ्च कामदेव के शस्त्र हैं। सुन्दर स्त्रियाँ कामदेव की सेना हैं। स्त्रियों की भौहें धनुष हैं–कटाक्ष तीर हैं। इस प्रकार की सामग्री के होने पर कामदेव से विजय पाना कठिन ही नहीं, अपितु, असाध्य है। भारतीय इतिहास पर दृष्टि डालिए और सच्चे हृदय से कहिए। क्या भगवान् कृष्ण के समान किसी दूसरे ने आज तक काम-विजय किया? हर्गिज नहीं। १६ (सोलह) हजार व्रज-युवतियों के बीच में–यमुना तट पर–शरद्यामिनी में–वंशी की मधुर तान में रास-विहार और उस पर भी काम-विजय। आश्चर्य्य–महाआश्चर्य्य? 'कृष्ण की रास-क्रीड़ा से समाज कलङ्कित होता है'–कहने वाले समाज के ठेकेदारो! सामाजिको!! खोलो–अपनी आँखें खोलो और कृष्ण की रास-क्रीड़ा से काम-संयम की शिक्षा लो। केले का रस पी कर काम-विजय करना काम-विजय नहीं कहलाता। भूखे रह कर–प्यासे रह कर–शरीराग्नि को मन्द कर काम-दमन करना काम-दमन नहीं कहलाता। कामोद्दीपक सामग्रियों के रहते हुए जो काम-विजय करना है–वही सच्ची विजय है। इसी का ज्वलन्त उदाहरण भगवान् कृष्ण का रास है। एकान्त में गोपियों के साथ जो रास है–वह भगवान् के काम-विजय की सूचना देता है। ब्रह्मा-इन्द्रादि का दमन करना भगवान् के अवतार में पूर्णावतारत्व में पहला प्रमाण है एवं मैदानेजंग में निहत्थे रह कर कामदेव को–मनोज को–परास्त करना पूर्णावतारत्व में दूसरा प्रमाण है। सभ्य-समाज की दृष्टि में रास-क्रीड़ा अश्लीलता है–हम असभ्यों की दृष्टि में रास से काम-संयम का–काम-दमन का–उपदेश मिलता है। दोनों में से किस की दृष्टि ठीक है–इसका निर्णय नीरक्षीरविवेकियों पर ही छोड़ते हैं। इस प्रकार सामाजिकदृष्टया रास से केवल कामसंयम की शिक्षा मिलती है।

अब चलिए–अध्यात्मवाद की ओर। ज्ञान-काण्ड और कर्म्म-काण्ड दोनों ही की अधिकार-भेद से व्यवस्था है। बिना कर्म्म के ज्ञान का अधिकार नहीं मिल सकता। काम करो–तब ज्ञान होगा। पुस्तक पढ़ो-तब ज्ञान होगा। कर्म्म के बिना नैष्कर्म्य होना कठिन है, अतएव गीताचार्य्य कहते हैं—

"न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते"–इति।[1]

जैसे कर्म्म के बिना ज्ञान का अधिकार नहीं मिल सकता तथैव शूद्र और स्त्री को कर्म्म का भी अधिकार नहीं मिलता। उसका कर्म्म है–केवल पति-सेवा और गृह-प्रबन्ध। उसको उसी से सिद्धि मिलती है। पति-सेवा करती हुई भी यह अपना पर-लोक सुधार सकती है एवं स्वयं वैराग्य उत्पन्न होने पर ईश्वर-चिन्तन करके भी उद्धार कर सकती है। भगवान् कृष्ण दयालु थे। संसार के प्राणि-मात्र के उद्धार-कर्त्ता थे। जैसा कि महामुनि शुकदेव कहते हैं—

"नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः"–इति॥[2]

गोपियों को न ज्ञान अच्छा लगता था–न कर्म्म अच्छा लगता था। यदि अच्छा लगता था तो केवल कृष्ण के पास २४ घण्टे रहना। भक्ति-काण्ड ही गोपियों का प्रधान-स्थल था। वे कृष्ण की भक्त थीं। बस, भगवान् ने उन्हें इसी मार्ग से मुक्ति देने के लिए उनके साथ रास-विहार किया। उनकी इच्छा थी कि हम कृष्ण के शरीर के साथ मिल जाएँ। वह और हम अभिन्न हो जाएँ। द्वैत-बुद्धि हट जाए। हमें अद्वैतामृत मिल जाए। भगवान् ने वही किया। गोपियों की उसी इच्छा को पूर्ण किया। अतएव टीकाकार श्रीधरस्वामी—

"भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः"।[3]

श्लोकदत्त 'ता रात्रीः' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'ता रात्रीः'–"याता बला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः" इति प्रतिश्रुता इत्यर्थः। कहना यही है कि रास-लीला-वर्णन अध्यात्मोपदेश के साथ-साथ भक्ति का भी स्वरूप बतलाता है। आगे चलिए–विज्ञान काण्ड मे। उसके विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। वही तो रास का मूल है। 'वैहायसकृष्ण-रहस्य' के

---

१ गीता ३।४।। २ भागवत १०।२९।१४। ३ भागवत १०।२९।१।

महासन्दर्भ से केवल उसी 'वैज्ञानिक रास' का स्वरूप बतलाया गया है । इस प्रकार कृष्ण की इस रास-क्रीड़ा से–सामाजिक, वैज्ञानिक, आध्यात्मिक एवं भक्ति–इन चार तत्वों को प्रतिपादित किया गया है । सामाजिकदृष्ट्या काम-विजय है । वैज्ञानिकदृष्ट्या चन्द्रात्मप्रकृतिपरिज्ञान है । मनोविज्ञान-रहस्य एवं ज्यौतिषविज्ञानरहस्य-शिक्षा है । आध्यात्मिकदृष्ट्या जीवेश्वराभेद-प्रतिपादन है । भक्तिदृष्ट्या-सायुज्यमुक्ति है । मूर्ख से मूर्ख भी ईश्वर की शरणागति में आ जाने से मोहजाल से मुक्त हो जाता है–यह आदेश है । इन चारों में से सामाजिक दृष्टि के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं । भागवत के श्लोकों से और टीकाकारों की व्याख्या से पता चलता है कि सारा 'रास-वर्णन' काम-विजय-परक है । जैसा कि 'रासपञ्चाध्यायी' के श्लोकों की व्याख्या करते हुए श्रीधर स्वामी लिखते हैं—

"ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा ।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः" ।।[1]

'ननु विपरीतमिदं परदार-विनोदेन कन्दर्पविजेतृत्वप्रतीतेः' । मैवम् । योगमायामुपाश्रितः । आत्मारामोऽप्यरीरमत् । साक्षान्मन्मथमन्मथः । आत्मन्यवरुद्धसौरतः । 'इत्यादिषु स्वातन्त्र्याभिधानात् । तस्माद्रासक्रीडाबिडम्बनं कामविजयख्यापनायेत्येव तत्त्वम् । किंच शृङ्गारकथोपदेशेन विशेषतो निवृत्तिपरेयं पञ्चाध्यायीति व्यक्तीकरिष्यामः ।'[2]

व्याख्याकारों की व्याख्या से एवं रास-वर्णन से पता लग जाता है कि रास-क्रीड़ा का सारा प्रपञ्च केवल पूर्णावतारत्व सिद्ध करने के लिए भगवान् कृष्ण की काम-विजय बतलाना है एवं स्थूल दृष्टि से प्रवृत्ति-प्रधान मालूम होने पर भी वस्तुतः इस रास-वर्णन के गर्भ में अध्यात्म-तत्त्व ही–निवृत्तिमार्ग ही–की प्रधानता मिलती है ।

'विज्ञान से रास का क्या सम्बन्ध है ?'–इसका प्रतिपादन हो चुका । सामाजिक दृष्टि के विषय में कुछ कहना नहीं । बाकी बचते हैं–अध्यात्म और

१ भाग[illegible] श्रीधरस्वामी टीका ।
२ भागवत १०।२९ श्रीधरस्वामी टीका ।

भक्ति। बस, पुराणप्रतिपादित रासानुसार हम अध्यात्म पर ही थोड़ी दृष्टि डालते हैं। इस अध्यात्म के साथ-साथ ही भक्ति भी गतार्थ हो जाएगी।

प्रकरण के प्रारम्भ में ही बतलाया गया है कि कामदेव के और कृष्ण के शर्त्त हो गई थी कि तुम्हारा-हमारा मैदान में युद्ध हो। इसका अर्थ यही है कि भगवान् ने काम-विजय करने के लिए यह ठान लिया कि कामोद्दीप्ति के लिए जो समय अनुकूल होगा—उसी में उस शक्ति के साथ युद्ध करेंगे। चूंकि कामोद्दीप्ति के लिए वसन्तऋतुवत् शरद्ऋतु भी उपयुक्त होती है, अतएव भगवान् ने पूर्वसंकल्पित उन शरद्ऋतु की रात्रियों को आया देख कर योग-मायाश्रित अव्ययेश्वर रूप में कन्दर्पदर्पदलन के लिए गोपियों के साथ रास-विहार करने की इच्छा की। कदाचित् कहो कि—यदि ऐसा था तो भगवान् ने रास-विहार के लिए वसन्त-ऋतु को ही पसन्द क्यों न किया? जब कि वसन्त में और ऋतुओं की अपेक्षा काम-शक्ति का अधिक प्राबल्य रहता है। इसका उत्तर आकाश-विहारी कृष्णचन्द्र का रास ही समझना चाहिए। जिस कृष्ण-चन्द्र के ये वासुदेव कृष्ण आत्मा हैं—वे कार्त्तिक में शरद्ऋतु में ही राधा के साथ रास करते हैं, अतएव तत्प्रकृतिक वासुदेव कृष्ण को शरद्-ऋतु में रास करना पड़ा। पुराणों पर ही आजकल ज्यादा आरोप हैं—अतएव स्थाली-पुलाकन्यायेन हम केवल श्रीमद्भागवतोक्त रासपञ्चाध्यायी का ही विचार करेंगे—

—श्रीमद्भागवतोक्तपौराणिकरासः—

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध में उनतीसवें (२९वें) अध्याय से रास-वर्णन का प्रारम्भ होता है। साठ हजार ऋषियों के बीच में महामुनि शुकदेव व्यास-गद्दी पर विराजमान हैं। उधर अनेक राजा-गणों के साथ चक्रवर्त्ती अर्जुन-पौत्र परीक्षित महर्षि के शापानुसार सातवें दिन तक्षक से डँसे जाने के कारण आत्मोद्धारार्थ शुकदेव मुनि से भागवत-कथामृतपान कर रहे हैं। शुकदेव मुनि राजा परीक्षित को कृष्णामृतपान करा रहे हैं। कृष्ण के कितने ही अद्भुत चरित्र शुकदेव सुना चुके हैं। अब भगवान कृष्ण के पूर्णा-वतारत्व को सिद्ध करने वाला जो भगवान् का कामविजयस्वरूप रास-विहार है—उसका प्रारम्भ करते हैं। शुकदेव कहते हैं—

"भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः" ।। इति ।[१]

जिन रात्रियों में मल्लिका-पुष्प खिल रहे हैं–ऐसी उन शरद्यामिनियों को आया देख कर योगमायाश्रित उस अव्ययपुरुष ने गोपियों के साथ रास-विहार करने की इच्छा की ।

इस श्लोक के **ता रात्रीः** और **योगमायामुपाश्रितः** इन दो वाक्यों पर ध्यान देना चाहिए । 'ता रात्रीः' का सीधा अर्थ है 'उन रात्रियों को' । उन रात्रियों को सुनते ही जिज्ञासा होती है कि 'किन रात्रियों को' ? इसका उत्तर–उस कामदेव की पूर्व प्रतिज्ञा से मिलता है । भगवान् ने मनोज से वादा कर लिया था कि हम तुम्हारे अनुकूल समय में तुम से युद्ध करेंगे । आज की ये शरद्रात्रियाँ–वास्तव में कामदेव के लिए अनुकूल हैं । शरदृतु की चाँदनी में कामदेव का राज्य रहता है । बस, प्रतिज्ञानुसार भगवान् ने उन रात्रियों को आया देखा । 'ता रात्रीः' में 'ताः' पूर्वसंकेतित अर्थ का सूचक है । यह पूर्वसंकेतित अर्थ वही कामदेव के साथ की गई प्रतिज्ञा की ओर ध्यान दिलाता है । बस, इसी भाव को दिखलाने के लिए 'ता रात्रीः' कहा गया है । दूसरा वाक्य है–**योगमायामुपाश्रितः** । जिस वासुदेव कृष्ण का हम जिकर कर रहे हैं–वह अव्ययस्वरूप है । अव्ययत्व नित्य तत्त्व है–असीम है, अतएव इच्छादि धर्म्मों से बहिष्कृत है । यही अव्यय-तत्त्व जिसे कि परात्पर भी कह सकते हैं–मायाबल के कारण परिच्छिन्न हो जाता है । बस, महामायावच्छिन्न जो अव्यय है–वही पुरुष कहलाने लगता है । इस महामायावच्छिन्न प्रकृतिविशिष्ट पुरुष का नाम ही 'ईश्वर' है । यह मायावच्छिन्न होने के कारण 'मायी' कहलाता है । इस महामाया के पेट में जीवस्वरूप बनाने वाली योगमाया और उत्पन्न होती है । जब तक योगमायाएँ उत्पन्न नहीं होती हैं, तब तक वह अव्यय केवला माया से परिच्छिन्न रहने के कारण उल्वण रहता है । परन्तु जब उसके ऊपर अनन्तानन्त योगमायाएँ आवृत हो जाती हैं–तो उसकी उल्वणता दब जाती है । अतएव योगमायाश्रित वासुदेव कृष्ण कहते हैं—

---

१ भागवत १०।२९।१ ।

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य 'योगमायासमाश्रितः'[1] ।"[2]

उदाहरण के लिए सूर्य्य पर दृष्टि डालिए। सूर्य्य के सोलर सिष्टम तक जो एक माया है, वह महामाया है एवं अनन्तानन्त प्रतिबिम्बित जो सूर्य्य-मात्राएँ हैं–वे योगमायाएँ हैं। यद्यपि है इनका भी नाम माया ही, तथापि चूँकि ये मायाएँ उस महामाया से युक्त रह कर ही–योग (सम्बन्ध) रख कर ही–अपना स्वरूप रखती हैं–अतएव इन्हें **योगमाया** कहा जाता है। प्रकृत में कहना केवल इतना ही है कि बिना मायावच्छेद के ससीमता नहीं आती एवं बिना ससीमता के इच्छा-धर्म्म का प्रादुर्भाव नहीं होता। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए इच्छा हुआ करती है। जो व्यापक तत्त्व है–उसमें तो सब कुछ है–वहाँ इच्छा का क्या काम? परन्तु मायावच्छिन्न अव्यय में अवश्य ही इच्छा हो आती है। चाहे वह माया योगमाया हो अथवा महामाया। शुकदेव कहते हैं कि भगवान् ने उन रात्रियों को आया देख कर रमण करने की इच्छा की। यह इच्छाधर्म्म बिना मायावच्छेद के नहीं बन सकता, अतएव अन्त में कहा है–**योगमायामुपाश्रितः**। वासुदेव कृष्ण ईश्वर होते हुए भी मानुष-शरीररूप में होने के कारण योगमायाश्रित ही थे, इसीलिए 'योगमाया-मुपाश्रितः' कहा गया है। आज उन्हीं योगमायाश्रित भगवान् में कामविजयार्थ इच्छा का प्रादुर्भाव हुआ। इधर भगवान् ने रास-क्रीड़ा की इच्छा की–उधर आकाशविहारी कृष्णचन्द्र अपनी गोपियों के (नक्षत्रों के) साथ रास करने के लिए उदित हुए। चन्द्रमा किस छटा को लिए हुए उदित हुआ–इसका वर्णन करते हुए भगवान् व्यास कहते हैं—

"तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः" ॥[3]

चिरकाल के बाद विदेश से आने वाला प्राणवल्लभ प्रियपति जैसे बहुत काल से बिछुड़ी हुई प्रिया को प्रसन्न करने के लिए विनोद में आ कर केशर से उसका मुख रंग देता है–एवमेव संसार के सारे प्राणियों का सन्ताप

---

१ पाठभेद योगमायासमावृतः। २ गीता ७।२५। ३ भागवत १०।२९।२।

दूर करने वाले आकाश-विहारी कृष्णचन्द्र अपनी प्रिया पूर्वादिशा को रश्मिरूप हाथों से लाल करते हुए उदित हुए।

इस श्लोक के **उडुराज** शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पूर्व के 'वैहायसकृष्ण-रहस्य' में बतलाया गया है कि नक्षत्रों को 'उडु' कहते हैं एवं सूर्य्य-गो-रस पान करने के कारण सारे नक्षत्र गोपियाँ हैं। कृष्णचन्द्र इन्हीं के अधिपति हैं। आज उडुराज अर्थात् गोपीवल्लभ आकाश-विहारी कृष्णचन्द्र अपनी प्राणप्रिया गोपियों के साथ रास-क्रीड़ा करने के लिए रंगमंच पर आए हैं। आज इनका नित्यरास प्रारम्भ होने वाला है।

भगवान् वासुदेवकृष्ण कृष्ण के आत्मा हैं। जिस प्रकार वासुदेव कृष्ण में परमेष्ठी का अंश है—उसी प्रकार चन्द्रमा का भी अंश है—जैसा कि पूर्व में बतला दिया गया है। आज वह चन्द्रमा रास करना चाहता है—अतएव तत्प्रकृतिक वासुदेवकृष्ण के मन में रास की इच्छा हुई। इस प्रकार नक्षत्र-गोपियों के साथ रास करने के लिए उधर से आकाशविहारी कृष्ण उदित हुए, इधर वासुदेवकृष्ण रास करने के लिए प्रवृत्त हुए। इसी प्राकृतिक कृष्णचन्द्रसम्बन्धिनी रासक्रीड़ा का स्मरण दिलाते हुए व्यास भगवान् ने—**'तदा उडुराजः ककुभः'** इत्यादि कहा है।

ऐसी शरद्यामिनी में—दिशाओं को अपनी लालिमा से रञ्जित करते हुए चन्द्रमा की रश्मिरञ्जित लालिमा को देख कर भगवान् कृष्णचन्द्र ने रास की इच्छा से—गोपियों के कानों को मधुर लगने वाले संगीत का प्रारम्भ किया।

भगवान् कृष्ण ने ऐसी रात्रियों को एवं पूर्णचन्द्र की कोमल रश्मियों से व्याप्त, अतएव अत्यन्त सुमनोहर वन को देख कर पूर्व-प्रतिज्ञानुसार वंशी की उस मधुर तान को छेड़ा—जिसको सुनते ही स्त्रियाँ विकल हो जाएँ। आज सारी सामग्री कामदेव के लिए उपस्थित है। यमुना का तट, शरद्-यामिनी—ये कामदेव के क्षेत्र हैं। व्रजस्त्रियाँ कामदेव की सेना हैं। आज इस खुले मैदान में कामदेव की इस असंख्य सेना के साथ भगवान् को युद्ध करना है एवं कामदेव का दर्प-दलन करना है। कामदेव चाहे उस पूर्व के शर्त्तनामे

को भूल गया हो, परन्तु लीलाधर उसे कैसे भूल सकते हैं? कामदेव के उपयुक्त समय पर आते ही पीताम्बरधारी-वनमाली यमुना तट पर पहुँच जाते हैं और वंशी बजाते हुए कामदेव का आह्वान करते हैं, कामदेव को युद्ध करने के लिए चैलेन्ज देते हैं। यमुनातट पर अर्द्धरात्रि में निर्जन प्रदेश में खड़े हो कर भगवान् का वंशी बजाना—कामदेव को युद्ध करने के लिए ललकारना है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्।
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्" ॥[1]

अहा हा! वह वंशी की ध्वनि कैसी थी—बस, मत पूछिए। जिस समय निःस्तब्धाकाश में हो कर वह वंशी की मीठी तान गोपियों के कानों में पड़ी—उस समय वे अपनी सारी सुधबुध भूल गईं। हम कहना भूल गए थे—भगवान् ने जो वंशी बजाई थी—वह भी कामदेव का ही तो शस्त्र था। संगीत-सुधा को बरसाने वाली वंशी कामदेव का शस्त्र था न कि कृष्ण का। शस्त्र—कैसा शस्त्र! मारने का शस्त्र नहीं—आह्वान करने का बिगुल। आज कामदेव का दमन करने वाले भगवान् कृष्ण कामदेव के प्रतिनिधि बन कर, कामदेव की सेना को बिगुल बजा कर, युद्ध के लिए सन्नद्ध करते हैं। मिलिट्री लाइन में चले जाइए—जिस समय युद्ध की बेला उपस्थित हो जाती है—उस समय इधर-उधर बिखरे हुए सिपाहियों को एक जगह इकट्ठा करने के लिए बिगुल बजाया जाता है। बस, बिगुल की आवाज कान में पड़ते ही उस समय जो भी सिपाही, जो भी काम करता रहता है—उसे वहीं छोड़ कर एकदम कैम्प में कमाण्डर के पास—सेनापति के पास आ खड़ा होता है। बस, आज ठीक वही हालत इन गोपियों की है। यह वंशी की तान नहीं है—आज कामदेव का—अपने सेनापति का रणसंग्राम में जूझने के लिए बुलावा है, अतएव इस वंशी की तान को सुनते ही गोपिकाएँ सब कामों को अध-बीच में ही छोड़-छाड़ कर भगवान् कृष्ण के पास आ जाती हैं। इसी अभिप्राय से व्यास भगवान् कहते हैं—

---

१ भागवत १०।२६।३।

"निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः" ।।[1]

कामदेव को जागृत करने वाले उस मधुर गीत को सुन कर कृष्ण से खींच लिया गया है मन जिनका, ऐसी एवं एक दूसरी के उद्यम को न देखती हुई तथा वेग से हिल रहे हैं कुण्डल जिनके, ऐसी व्रजस्त्रियाँ उस स्थान पर दौड़ पड़ीं, जहाँ पर कि उनका प्राणप्रिय कृष्ण मौजूद था ।

श्लोक के **अनङ्गवर्द्धनम्–अन्योन्यमलक्षितोद्यमाः**–इन दो पदों पर विशेष ध्यान देना चाहिए । यह वंशी की तान कामदेव को जाग्रत करने वाली है । इससे कामदेव को ही सहायता मिली है, न कि कृष्ण को । क्यों कि कृष्ण तो किसी प्रकार की सुविधा न रखने की प्रतिज्ञा कर चुके थे । 'कृष्ण ने वंशी बजाई'–अतएव मानना पड़ेगा कि वंशी कृष्ण का शस्त्र है फिर इन्होंने निहत्थे रहने की प्रतिज्ञा का पालन कहाँ किया–कोई इस संशय में न पड़ जाए–इसीलिए–**अनङ्गवर्द्धनम्** कहा है । व्यास भगवान् कहते हैं–कि जिस वंशी को तुम कृष्ण की वस्तु समझ रहे हो–वह भी कामदेव को ही मदद पहुँचा रही है । उससे भी अनङ्ग का ही बल बढ़ रहा है ।

जिस समय जीवात्मा को परमात्मा का ज्ञान हो जाता है–परमात्मा जीवात्मा पर अनुग्रह कर उसे सीधा रास्ता दिखला देता है । उस समय जीवात्मा सारे कर्म्म-बन्धनों को तोड़ कर ईश्वर में लीन हो जाता है । आत्म-ज्ञान हुए बाद माता-पिता-पुत्र-पति-भ्राता-धन-दौलत कुछ भी अच्छा नहीं लगता । उस समय तो केवल वही तत्त्व अच्छा लगता है । आज गोपियों को परमात्मा का ज्ञान हो गया है । उन्होंने मनुष्य-रूप में उतरे हुए ईश्वरांश को पहचान लिया है, अतएव आज वे इन सारे कर्म्म-प्रपञ्चों को तोड़ कर उसी ईश्वर की शरण में आना चाहती हैं । आज इस जीवात्मा को अर्थात् गोपियों को माता-पिता-पुत्र-धन-धान्य-पति इत्यादि किसी का भी मोह नहीं है ।

---

१ भागवत १०।२९।४ ।

जिस समय जीवात्मा को परमात्मा का ज्ञान हो जाता है उस समय वह खाना-पीना-पहनना सब कुछ भूल जाता है। आज गोपियों की यही दशा है। व्यास भगवान् उसी स्थिति का वर्णन करते हैं—

"दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः॥"[१]

कितनी ही गोपियाँ दूध दुह रही थीं–उन्होंने वंशी की तान सुनते ही दूध दुहना छोड़ा। कितनी ही ने दूध को और खिचड़ी को अग्नि पर रख दिया, परन्तु बीच ही में मधुर तान के कानों में आ जाने से न दूध को उतारा न खिचड़ी को ठंडा किया–दोनों कामों को बीच में ही छोड़ चल पड़ीं'—

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्॥"[२]

कितनी ही गोपियाँ अपने पतियों को भोजन परोस रही थीं–कितनी ही अपने बच्चों को स्तन-पान करा रही थीं–कितनी ही पतिशुश्रूषा में लग रही थीं–कितनी ही पतियों को भोजन करा आप भोजन करने बैठी थीं–जहाँ कानों में वंशी की तान पड़ी कि गोपियाँ पूर्वोक्त सारे कामों को छोड़ कर वहाँ से चल पड़ीं। आज गोपियों को न वस्त्रों की सुध है–न खाने की सुध है–न घर की पर्वाह है। मन्त्र-मुग्ध की भाँति एक दूसरी से बिना बोले चुप-चाप-वंशी की तान की ओर खिची जा रही हैं। सेनापति के बिगुल के बाद सिपाहियों को चैन नहीं रहता। उन्हें उसी हालत में दौड़ना पड़ता है–जिस हालत में कि वे उस समय रहते हैं। आज वंशी का बजना–कामदेव का बिगुल बजना है। भला, फिर गोपियाँ (काम-सेना) क्यों ठहर सकती थीं ? यह तो हुई काम-विजय-कथा। अब चलिए अध्यात्म-वाद की ओर। जीवात्मा तभी तक कर्म्म-बन्धन में फँसा रहता है जब तक कि उसे परमात्मा का ज्ञान नहीं होता। जहाँ उसे आत्म-ज्ञान हुआ कि सारे प्रपञ्चों से वह अलग हुआ।

---

१ भागवत १०।२९।५ २ भागवत १०।२९।६।

आत्म-ज्ञान होने पर ईश्वरप्राप्त्यनन्तर माँ-बाप-भाई-पुत्र-पति-धन-दौलत सब निःस्सार प्रतीत होने लगते हैं। आज गोपियों की वही दशा है। आज साक्षात् अव्ययेश्वर उन पर प्रसन्न हैं। आज गोपियों को ईश्वर का बुलावा है। भला, फिर उन्हें सांसारिक कर्म्म क्यों कर बन्धन में डाल सकते हैं? एक तो उन्हें कर्म्म-बन्धन में डाल ही नहीं सकते, यदि उन आत्मज्ञानियों को सांसारिक मनुष्य बलात्कारेण नियन्त्रित कर–उन्हें संसार में फँसाए रखने की कोशिश करना चाहते हैं, तो वे उनके बीच में से उसी समय अन्तर्हित हो जाते हैं। वे इन सांसारिक मनुष्यों का साथ सदा के लिए छोड़ बैठते हैं। यहाँ पर भी यही हाल हुआ। कितनी ही गोपियों को उनके पति-भ्राता एवं बन्धुओं ने वहाँ जाने से रोकना चाहा। परन्तु जिनके आत्मा को अव्ययावतार गोविन्द ने अपनी ओर खींच लिया था–उन आत्मज्ञानवती गोपियों को कौन रोक सकता है? इसी आत्मतत्त्व को लक्ष्य में रख कर शुकदेव कहते हैं—

"ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्त्तन्त मोहिताः" ॥[1]

फिर भी कितनी ही गोपियों को उनके पतियों ने बलात्कार से उन्हें रोक लिया–बाहर निकलने न दिया। परन्तु उन बेचारों को क्या मालूम था कि ईश्वर-प्रेम के सामने दुनिया के सारे बन्धन ढीले पड़ जाते हैं, आत्मज्ञानियों के सारे बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। आत्म-ज्ञानियों पर किसी भी प्रकार का बन्धन असर नहीं करता। वही दशा इन गोपियों की भी हुई। इतना ही नहीं, अपितु, जो गोपियाँ कृष्ण के पास अद्वय-भाव को प्राप्त करने गई थीं–उनसे पहले ही ये गोपियाँ कृष्णात्मा में लीन हो गईं। कारण इसका एक-मात्र–असहनीय विरह की तीव्र तापाग्नि ही था। जब तक पापपुण्यादिकर्म्म अवशिष्ट रहते हैं, तब तक आत्मा मुक्त नहीं होता। यहाँ पर इन गोपियों का विरह-ताप इतनी अधिक मात्रा से बढ़ा कि क्षण मात्र में उनका सारा कर्म्म-प्रपञ्च उस विरहानल में जल कर खाक हो गया और ध्यान से प्राप्त कृष्ण के आलिङ्गन द्वारा सारे पुण्य कर्म्मों का फल प्राप्त हो कर वे सारे कर्म्म नष्ट

---

१ भागवत १०।२९।८।

हो गए। तात्पर्य्य यही है कि जब तक पापपुण्यों का भोग नहीं हो जाता, तब तक वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं एवं जब तक कर्म्म बने रहते हैं, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। गोपियों ने कृष्णसंगम के लिए जो पुण्य कर्म्म किए थे वे भी अभी अभुक्त ही थे एवं जो कितने ही पूर्व जन्मों के संचित पाप थे, वे भी अभुक्त ही थे। परन्तु आज उन दोनों का भोग हो गया। साथ ही यह और समझ लेना चाहिए कि पापपुण्यरूपकर्म्मों का फल सुख-दुःख रूप में होता है। आप अपने जीवन में जितना दुःख पा रहे हैं–समझ लीजिए, आपके पापों का फल पा रहे हैं। जितना ही आप दुःख पाते हैं–उतने ही पाप-कर्म्म क्षीण होते जाते हैं। पापकर्म्मों का भोग दुःख है। एवमेव पुण्य-कर्म्म का भोग सुख है। जैसा कि भगवान् मनु कहते हैं—

"शुभाशुभफलं कर्म्म मनोवाग्देहसंभवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः" ॥[1] इति।

जिन गोपियों को बन्द कर दिया–उनका विरहदुःख बहुत ही बढ़ा। बस, इसमें उनके सारे पापकर्म्मों का भोग हो गया। ध्यान द्वारा उन्हें कृष्ण के साथ मिलने में जो आनन्द प्राप्त हुआ–सुख मिला उसमें उनके सारे मंगल क्षीण हो गए–सारे पुण्य-कर्म्म क्षीण हो गए। इस प्रकार मनसा-वाचा-कर्म्मणा उसी का ध्यान करती हुई गोपियाँ आश्लेष-सुख से पाप-पुण्य कर्म्मों को जला कर तद्द्वारा सत्त्वरजस्तमोरूप त्रिगुण देह को छोड़ कर सारे बन्धनों को तोड़ती हुई–कृष्ण के साथ जा मिलीं। शुकदेव कहते हैं कि यद्यपि उन गोपियों की बुद्धि 'जार' भाव से कृष्ण में लगी हुई थीं, कृष्ण को वे अपना उपपति समझती थीं तथापि इससे क्या हुआ? अग्नि को चाहे कोई कैसा भी समझता रहे–उसमें जिस बुद्धि से जो प्रविष्ट होगा, अग्नि उसे जला ही देगा। गोपियों की दृष्टि में कृष्ण उपपति हो सकते हैं–कृष्ण की दृष्टि में गोपियाँ उपपत्नियाँ थोड़े ही हैं। कृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं। उनको किसी भाव से देखो–ध्यान करो–वह अवश्य ही मुक्ति प्रदान करेगा। किसी भी बुद्धि से अग्नि के हाथ लगाओ, अग्नि जला ही देगा। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

---

१ मनुस्मृति १२।३।

"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः" ।।[1]

गोपियाँ उपपति समझती थीं, परन्तु साथ ही वे यह भी समझती थीं कि ये मामूली मनुष्य नहीं हैं अपितु, साक्षात् ईश्वर हैं। 'जार-बुद्धि असत् बुद्धि है। इसके द्वारा ईश्वर-प्राप्ति होना असम्भव है'–जो लोग यह कह कर 'रासोक्त' 'जारबुद्ध्या' शब्द पर हिचकिचाते हैं, उन्हें हमें केवल इतना ही कह देना है कि ईश्वर-प्राप्ति के जितने भी उपाय हैं–वे सब असत् हैं–मिथ्या हैं। ईश्वर सत्य है। ईश्वरातिरिक्त सारा कर्म्म-प्रपञ्च मिथ्या है। ऐसी अवस्था में उस सत्य-तत्त्व की प्राप्ति का जो उपाय होगा–वह सुतरां असत्य ही होगा। बिना असत्य का आश्रय लिए सत्यतत्त्व का प्राप्त होना कठिन ही नहीं अपितु, असम्भव है। इसी अभिप्राय से अभियुक्त कहते हैं—

"असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते" ।। इति[2]

जब यह सिद्ध हो जाता है कि ईश्वरप्राप्त्युपायभूत सारी बुद्धियाँ असत्य हैं, तो फिर प्रकृत में हमें कहना केवल इतना ही है कि जिन गोपियों को जबर्दस्ती रोक लिया वे विरह-जनित दुःख, ध्यान द्वारा कृष्णालिङ्गन-जनित सुख से जार-बुद्धि रखती हुई भी–अनन्य भक्ति के कारण सारे पाप-पुण्यों को जला कर निर्धूतकिल्विष हो कर–सारे बन्धनों को तोड़ती हुई–गुणमय देह का परित्याग कर ईश्वराभा में लीन हो गईं। **न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, इहैव समवलीयन्ते**–इस श्रौत-सिद्धान्त के अनुसार तन्मय हो गईं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अन्तर्गृहगताः काश्चित्–गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ।।[3]

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमंगलाः" ।।[3]

---

१ गीता ९।३०। २ वाक्यपदीयम्। ३ भागवत १०।२९।९-१०।

"तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः" ।। इति[1]

जब शुकदेव इतना चरित्र कह चुके तो राजा परीक्षित बीच ही में बोल उठे । जब राजा परीक्षित ने यह सुना कि जारबुद्धि से भी गोपियाँ कृष्णात्मा में लीन हो गईं तो इससे बड़ा आश्चर्य्य और सन्देह हुआ । इस सन्देह को दूर करने के लिए परीक्षित शुकदेव मुनि से प्रश्न करते हैं कि मुने ! मेरी समझ में किसी तरह भी यह बात नहीं आती कि गोपियाँ गुणातीत भाव को प्राप्त हो गईं । कारण इसका यही है कि–**जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी**–इस नियम के अनुसार गोपियों को गुणातीतप्राप्ति नहीं होनी चाहिए । गोपियाँ कृष्ण को अपना प्यारा पति समझती थीं । गोपियों का भाव सगुण ईश्वर पर था । वे उसे ब्रह्मरूप से नहीं जानती थी, अपितु, अपना प्यारा प्राणवल्लभ समझती थीं । इस प्रकार सगुणभावोपेतबुद्धि वाली इन गोपियों का गुणोपरम क्यों कर हो सकता है ? कान्तभाव का आश्रय लेती हुईं गोपियाँ गुणों के फन्दे में से क्यों कर निकल गईं ? इस प्रकार राजा के यह पूर्व-पक्ष प्रस्तुत करने पर शुकदेव उत्तर देते हैं—

"कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्" ।।[2]

राजन् ! इसका उत्तर मैं तुम्हें पहले ही दे चुका हूँ । मैंने शिशुपाल-चरित्र बतलाते समय तुम्हें कहा था कि कृष्ण के साथ घोर शत्रुता करता हुआ शिशुपाल भी मोक्ष को प्राप्त हो गया । भला, जब द्वेष-बुद्धि से ध्यान करने पर भी आत्मा बन्धनों से मुक्त हो जाता है, तो उन गोपियों के विषय में तुम्हारा 'वे कैसे गुणातीतत्व को प्राप्त हो गईं'–यह प्रश्न ही अशुद्ध है, जब कि गोपियाँ कृष्ण की प्यारी हैं । राजन् ! तुम्हें यह अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए कि संसार के कल्याण के लिए–अव्यय-अप्रमेय-निर्गुण एवं गुणात्मा-सच्चिदानन्द भगवान् का समय-समय पर प्राकट्य हुआ करता है । अधर्म-नाश

---

१ भागवत १०।२९।११ । २ भागवत १०।२९।१२ ।

के लिए–भक्तों को सुख देने के लिए–ईश्वर के साथ काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य, सौहार्द–किसी भी भाव को लगाते हुए मनुष्य तन्मय हो जाते हैं। जमीन में बोया हुआ उलटा-सीधा चाहे जैसे भी डाला हुआ बीज जैसे अंकुर रूप में परिणत हो ही जाता है, क्रोध से–काम से–किसी भी दृष्टि से पी हुई औषधि जैसे रोग का समूल विनाश कर ही देती है–ठीक इसी प्रकार चाहे किसी भी भावना से उसे देखो–यदि वह भावना पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है–तो अवश्य ही उसके साथ तन्मयता हो जाती है। इसलिए राजन्! तुम्हें योगीश्वरों के भी ईश्वर अव्ययरूप भगवान् कृष्ण के विषय में किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं करना चाहिए। आश्चर्य मनुष्य-भाव में हो सकता है। कृष्ण मनुष्य होते तो तुम्हारा आश्चर्य ठीक था। परन्तु याद रक्खो, कृष्ण मनुष्य नहीं हैं–साक्षात् सच्चिदानन्द हैं। इस प्रकार से अपने प्रश्न के—

"उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते"॥[1]

बीच ही में राजा को सन्देह हो गया था, अतएव उसका समाधान करना पड़ा। अब फिर आगे का चरित्र बतलाते हैं। उस वंशी की मधुर-ध्वनि को सुन कर सारी गोपियाँ सारे कार्यों को जैसा का तैसा ही छोड़ कर कृष्ण के पास आ गईं। कामदेव की सेना को देख कर कृष्ण ने उपक्रम में ही उसका मानमर्दन करना चाहा। संसार के बोलने वालों में चतुर-वाक्-शिरो-

---

१ भागवत १०।२६।१३-१६।

मणि भगवान् कृष्ण उन गोपियों को अपने समीप आया देख कर मन्मथ का मान-मर्दन करते हुए कहते—

आओ ! आओ !! गोपियो, आओ !!! हम आपका स्वागत करते हैं । कहो ! हम आपकी क्या सेवा करें ? जब कोई अतिथि अपने घर आता है–तो उसे आते ही 'स्वागत है–पधारिए ! क्या आज्ञा है ? हम आपकी क्या सेवा करें ?'–यह कहा जाता है । काम-सेना का मानमर्दन करने के लिए ही भगवान् ऐसे रूखे शब्द बोलते हैं । स्वागतादि शब्द अतिथि के लिए हैं, न कि प्रेमी के लिए । गोपियाँ भगवान् का आतिथ्य स्वीकार करने नहीं आई थीं, अपितु, स्वयं आत्मसमर्पण करने आई थीं । इस भाव को एकदम पर्दे में छुपाते हुए कृष्ण कहते हैं[1]–आओ ! गोपियो !! हम तुम्हारा स्वागत करते हैं । कहो ! हमारे लायक क्या काम है ? आज इस कुसमय में तुम्हारा अचानक चले आना हमें आश्चर्य्य में डालता है । कहो ! व्रज में तो सब तरह शान्ति है । कहीं कुछ उपद्रव तो नहीं मच गया है ? अपने आने का कारण जल्दी कहो । गोपियो ! घोर हिंस्र जन्तुओं से व्याप्त अतएव यह घोरा-रात्रि और तुम्हारा ऐसे भयंकर समय में आना । जाओ जाओ जल्दी से व्रज को लौट जाओ । गोपियो ! तुम कोमल हो । तुम्हारा हृदय अत्यन्त कोमल है । ऐसे कोमल हृदयवाली स्त्रियों को ऐसी भयंकर-रात्रि में निर्जन प्रदेश में–एक क्षण भी नहीं रहना चाहिए । इस घोरा-रात्रि में माता-पिता-पुत्र-भाई-पति घर पर तुम्हें न पा कर ढूँढ रहे होंगे । इसलिए जाओ–जल्दी जाओ । अपने बन्धुओं को वियोग-दुःख में मत डालो । हमारी समझ में नहीं आया कि तुम इस समय आई क्यों हो ? क्या यमुना-तट पर खिली हुई चाँदनी की शोभा देखने आई हो ? वन की शोभा निहारने आई हो तो तुमने–यमुना तट पर बहने वाली शीतल मन्द सुगन्ध वायु के धक्के से यमुना में धीरे-धीरे हिलने वाले कमलों से सुशोभित-चन्द्रमा की किरणों से अभिव्याप्त–ऐसे वन को भी देख ही लिया है–फिर खड़े रहने की क्या जरूरत है ? इस कथन में बड़ा ही चमत्कार है । भगवान् कामदेव को उत्तेजित करते जाते हैं । उसे ही सारी सुविधाएँ देते जाते

---

१ भागवत० १०।२९।१८-१९-२० ।

हैं और साथ ही उसे परास्त भी करते जाते हैं। यमुना का तट, उसमें खिलने वाले कमलों की शोभा, शीतल मन्द सुगन्ध वायु के झकोरों से उन कमल-पत्रों का मन्द-मन्द हिलना–उस पर भी चन्द्रमा की चाँदनी–एकान्त रात्रि का समय-इतर मनुष्यों का अभाव। एक से एक भयंकर शस्त्र। अपने हाथों कामदेव के हाथ में ऐसे शस्त्र देना और फिर उसे परास्त करना–सचमुच योगेश्वर कृष्ण का ही काम है। इस प्रकार कामदेव को उत्तेजित करते हुए साथ ही उसे फटकार बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

[१]हे गोपियो ! तुमने वन की शोभा देख ही ली है। अब अपने-अपने घर जाओ। यहाँ अधिक समय मत ठहरो। अपने पतियों की सेवा करो। गायों को दुहो। बच्चों को दूध पिलाओ। इस प्रकार भगवान् ने गोपियों को बाहर ही बाहर से फटकार बतलाई। जब गोपियों को ऐसे रूखे उत्तर से उदास देखा तो फिर जरा उनको मनभावनी बात बोलते हुए कहने लगे कि शायद तुम लोग मेरे प्रेम-पाश में बद्ध हो कर यहाँ आई हो। तुमने मुझे ईश्वर समझा है। तुमने इसी दृष्टि से मेरे साथ प्रेम किया है। ठीक है–बिल्कुल ठीक है। तुम्हारा यह प्रेम बिल्कुल उचित है। क्यों कि संसार के प्राणी मुझ से प्रेम किया ही करते हैं। परन्तु याद रक्खो–स्त्री का एकमात्र परम धर्म्म है–पति-सेवा। स्त्री के लिए साक्षात् मूर्त्तिमान ईश्वर पतिदेव हैं। छल-कपट को छोड़ कर शुद्ध मन से पति की सेवा करना–बस, पतिव्रता स्त्रियों का एकमात्र यही धर्म्म है। साथ ही पतिदेव के जो माता-पितादि बन्धु हैं–अर्थात् सास-ससुर हैं–उनकी सेवा करना भी परम धर्म्म है। प्रजा (सन्तान) भी स्त्रियों का परम धर्म्म है। गोपियो ! दुराचारी, दुर्भग, वृद्ध, मूर्ख, रोगी, निर्धन–पति चाहे कैसा भी हो–सद्गति चाहने वाली स्त्रियों को कभी भी पति का परित्याग नहीं करना चाहिए। पर-पुरुष के साथ सम्बन्ध करना–स्वर्ग-यश-अभय-आनन्द आदि सारी सत्-सम्पत्तियों को नष्ट कर देता है। इसलिए मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ-तुम सब यहाँ से लौट जाओ।

हो गए। कामदेव सर्वथा परास्त हो गए। सोचा था–सिपाही तगड़े हैं। सब तरह के सुभीते हैं-मार लेंगे। परन्तु गए थे चौबेजी बनने–दुब्बेजी

---

१ भागवत० १०।२६।२१-२२ प्रभृति।

बनने के सांसे रह गए। जब गोपियों ने भगवान् के मुख से ऐसे रूखे वचन सुने तो सारे संकल्प नष्ट हो गए। गोपियों ने सोचा होगा कि अपना सौन्दर्य देखते ही भगवान् अपने ऊपर लट्टू हो जाएँगे–हम से प्यार करेंगे–हमें अपनाएँगे। परन्तु यहाँ तो सारा मामला उलटा ही मिला। रूखे उत्तर सुन कर गोपियों ने नीचा मुख कर लिया। गरम-गरम श्वास ले कर होठों को सुखाने लगीं। लड़ाई में और क्या होता है? मैदान में पछाड़े हुए पहलवान् की यही दशा हो जाती है। मानमर्दन के कारण वह लम्बे श्वास लेने लगता है। यही हालत इन गोपियों की हो गई। पैरों से जमीन की मिट्टी कुरचने लगीं। आँसुओं की धार बह निकली एवं मारे दुःख के गोपियों का गला रुँध गया। उनसे उत्तर तक न दिया गया। जिसे वे अपना प्रियतम समझती थीं–जिसके लिए उन्होंने सारे काम छोड़ दिए थे, उसे अपने विरुद्ध बोलते देख कर–आँखों को पौंछ कर-हिचकियाँ लेती हुई–गोपियों ने रुँधे हुए गले से कृष्ण से कहना शुरू किया। इसी भाव का वर्णन करते हुए व्यास कहते हैं—

"प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्
संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः"॥[1]

इस श्लोक के-**तदर्थविनिर्वर्त्तितसर्वकामाः**–इस वाक्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए। गोपियाँ कहती हैं–हमने उसके लिए सारी कामनाओं का परित्याग कर दिया है। इतने पर भी संशयी मनुष्यों को 'रास-लीला' पर आक्षेप करते हुए शर्म्म नहीं आती है। यदि 'सर्वकामा' की जगह 'सर्वार्थी' कहा जाता तो आरोप करने का अत्र मौका था। परन्तु 'सर्वकामा' से तो स्पष्ट ही कामाभाव सूचित होता है। गोपियाँ भगवान् को क्या उत्तर देती हैं–जरा ध्यान दीजिए। गोपियाँ कहती हैं—

"मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।

१ भागवत० १०।२९।३०।

भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्" ॥[1]

हे सर्व-व्यापक ! आप हमसे ऐसे कठोर वचन मत कहिए । हम संसार की सारी विषय-वासनाओं को छोड़ कर आपके चरणों में प्राप्त हुई हैं । जिस प्रकार ब्रह्म मुमुक्षु जीवों को अपनाता है, वैसे ही आप हमें अपनाइए । हमारा परित्याग न कीजिए ।'

पुराणों के ऊपर आक्षेप करने वाले महारथियो ! गोपियों के उत्तर को सुनो ! सावधानी से सुनो ! और गोपियों को प्रणाम करो । उनकी परा-भक्ति के सामने उनके–**संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्**–इन वाक्यों के सामने अपना मस्तक झुकाओ ।

कृष्ण ने कहा था कि स्त्रियों का पति-सास-ससुर आदि की सेवा करना ही परम धर्म्म है । इसका उत्तर देती हुई गोपियाँ कृष्ण पर कटाक्ष करती हुई कहती हैं—

"यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा" ॥[2]

धर्म्म को जानने वाले धर्म्मज्ञ ! आपने हमें कहा कि पति-पुत्र-सास श्वसुरादि के नियन्त्रण में रहना–पति आदि की सेवा-शुश्रूषा करना स्त्रियों का स्वधर्म्म है । बात बिल्कुल ठीक है । हम भी इस बात को खूब अच्छी तरह समझती हैं । इसके उत्तर में हमें केवल इतना ही कहना है कि वह स्त्रियों का धर्म्म आप ही में चरितार्थ हो तो–इससे अधिक और अच्छी बात क्या हो सकती है ? क्यों कि संसार में यच्चयावत् देहधारियों के बन्धु तो आप ही हैं । गोपियों का उत्तर बड़ा ही जबर्दस्त है । गोपियों को तो—

"त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव" ॥

---

१ भागवत० १०।२६।३१ । २ भागवत १०।२६।३२ ।

यह सिद्ध करना था। इस प्रकरण को हम अधिक नहीं बढ़ाना चाहते। संक्षेपतः यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि जब भगवान् ने देख लिया कि गोपियों की सच्ची भक्ति है तो भगवान् ने उनके साथ रास-क्रीड़ा प्रारम्भ कर दी। रास-क्रीड़ा क्या करना था—कामदेव को खिला-खिला कर पछाड़ना था—जैसा कि आगे जा कर व्यास कहते हैं—

> "बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
> नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
> क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-
> मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार" ।।[1]

स्त्रियों के साथ इस प्रकार हासविलास देख कर कामदेव को जरा-गर्व हो गया। उसने कहा कि वह मारा। आखिर चंगुल में फँसा ही लिया। कहते थे—यहाँ मत रहो—चली जाओ। पति-सेवा करना स्त्रियों का धर्म्म है। आखिर स्त्रियों के साथ नचवा ही दिया। जहाँ कामदेव का यह खयाल होना था कि उसी समय भगवान् उन सब के बीच में से अन्तर्हित हो गए।

बस, भगवान् के गायब होते ही गोपियों की कैसी दशा हो गई है—उसका वर्णन हम अपनी इस क्षुद्र लेखिनी से नहीं कर सकते। इसके लिए भागवतोक्ति—'गोपी-गीत' को व्यास के शब्दों में ही देखना चाहिए। यहाँ पर हम केवल दो-चार वाक्य ऐसे दिखला देते हैं—जिससे कि आपको पता चल जाए कि गोपियाँ कृष्ण को कैसा समझती थीं और उनके साथ गोपियों का कैसा प्रेम था?—

> "न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
> विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले" ।।[2]

> "तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
> श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः" ।।[3]

---

१ भागवत० १०।२९।४६।   २ भागवत० १०।३१।४।
३ भागवत० १०।३१।९।

हो चुका। कामदेव का पूरा मर्दन हो चुका। गोपियाँ जब विलाप करती थक गईं–तो अन्त में सब के बीच में भगवान् कृष्ण हँसते हुए प्रकट हुए। उस समय कृष्ण मन्मथ का मानमर्दन कर पूर्णरूप से उसे परास्त कर हँसते हुए प्रकट हुए। इसी भाव को व्यक्त करते हुए सत्यवती–सूनु कहते हैं—

"तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥"[1]

इस श्लोक के–'शौरिः"–'स्रग्वी' दो विशेषणों में बड़ा चमत्कार है। कृष्ण को आज शौरि (शूरसेन के पोते) बतलाया गया है। यह नियम है कि जब कोई अपने शत्रु पर विजय प्राप्त कर आता है तो उसके लिए कहा जाता हैं–इसने अपने बाप-दादों का नाम रख लिया। विजय के बाद दादा के नाम से उसे बधाई दी जाती है। आज कृष्ण काम-विजय करके आए हैं, अतएव आज इन्हें वसुदेव-पुत्र नहीं कहा गया, अपितु, 'शौरि' कहा गया है, शूरसेन का पोता बतलाया गया है। एवमेव जब योद्धा शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेता है, तो उसके गले में विजयमाला डाली जाती है। आज कृष्ण ने काम-शत्रु पर विजय प्राप्त की है, अतएव इनके गले में माला डली हुई है। अतएव 'स्रग्वी' कहा है।

गोपियों के साथ भगवान् ने कैसा रास किया–जरा यह भी सुन लीजिए—

"एवं परिष्वङ्गकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥[2]

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः" ॥[3]

यह है 'श्रीमद्भागवत की रासलीला। हम आप से पूछते हैं–आपको इसमें कौन सी अश्लीलता प्रतीत हुई? हाँ, केवल एक प्रश्न बाकी बच जाता

---

१ भागवत १०।३२।२। २ भागवत १०।३३।१७। ३ भागवत १०।३३।२६।

है; वह यही कि कृष्ण ने ऐसा काम ही क्यों किया जब कि वे धर्म्म को स्थापित करने के लिए अवतरित हुए थे ? 'परस्त्रियों के साथ रास-विहार'– यह बात अवतार के विषय में जरा खटक सकती है। यदुपति आप्तकाम थे। फिर उन्होंने सर्वसाधारण की दृष्टि में निन्दनीय समझे जाने वाले कार्य्य को किया ही क्यों ? शुकदेव कहते हैं—

[1]**राजन् ! जो ईश्वर हैं–समर्थ हैं, उनमें धर्म्म-व्यतिक्रम देखा गया है। जो समर्थ होते हैं–वे सब कुछ कर सकते हैं।** उदाहरणार्थ–अग्नि को लीजिए। साधारण मनुष्य अन्न के अलावा यदि और कुछ खा बैठता है, तो उसका प्राणान्त हो जाता है, परन्तु अग्नि में जो कुछ डालो, सब स्वाहा है। भक्ष्याभक्ष्य का नियम हमारे लिए है–न कि अग्नि के लिए। जो असमर्थ है–उसे कभी–समर्थ के कार्य्यों की नकल नहीं करनी चाहिए। यदि मूर्खतावश वह नकल कर बैठेगा, तो सर्वनाश हो जाएगा। 'महादेवजी विष पी गए' इसलिए हम भी पीएँगे–कह कर मूर्ख-मनुष्य यदि विष पी जाएगा तो अपना स्वरूप खो बैठेगा। इसीलिए समर्थ लोग जो कुछ आज्ञा दें–उसी का पालन करना चाहिए। अहिंसा-सत्यादि साधारण धर्म्मों को छोड़ कर उनके किसी कार्य्य की नकल नहीं करनी चाहिए।

जो समर्थ हैं–अच्छा काम करने में, उनका कोई स्वार्थ नहीं है। बुरा काम करने में हानि नहीं है। इसीलिए उनके विषय में ऐसे सन्देह करना ही व्यर्थ है।

अन्त में और भी स्पष्टीकरण करते हुए शुकदेव जी कहते हैं—

"यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्म्मबन्धाः।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना
स्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः" ।।[2]

---

१ भागवत० १०।३३।३०-३१-३२। २ भागवत० १०।३३।३५।

"गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥[1]

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः" ॥[2]

॥ इति पौराणिक-रास-शङ्का-समाधानं समाप्तम् ॥

---

१ भागवत० १०।३३।३६ । २ भागवत० १०।३३।३७-३८ ।

ग्रन्थ प्राप्ति :—

कृष्णचन्द्र शर्म्मा,

"मानवाश्रम विद्यापीठ"

दुर्गापुरा रोड, जयपुर–३०२०१८